पाक्षिक
सारिका
वर्ष:२०: अंक:२६५
प्रेमचंद विशेषांक

प्रेमचंद जन्म शताब्दी वर्ष

कहानियों और कथाजगत की जीवंत पाक्षिकी

वर्ष : 20; अंक : 265;
16 से 31 जुलाई, 1980
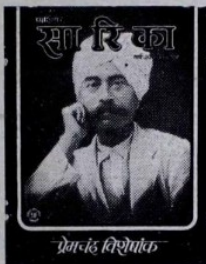
संपादक :
कन्हैयालाल नंदन
मुख्य उप-संपादक :
अवधनारायण मुद्गल
उप-संपादक :
रमेश बत्तरा, सुरेश उनियाल, बलराम, अरुण वर्द्धन

साक्षात्कार

मील का पत्थर

प्रेमचंद की अन्य रचनाएं

विशिष्ट लेख

संस्मरण

फिल्में

अन्य आकर्षण

लोकप्रिय लेखन की चुनौती

वाकया छोटे से गांव का है. लड़का जवान होकर पिता की मर्जी के खिलाफ शादी करने पर उतारू था. पिता लड़के को समझाने की फिराक में था : 'अपनी मरजाद देखो, तुम ऊंचे कुल के हो, सारा गांव थुड़ी थुड़ी कर रहा है, कि फलां का लड़का कुजात छोकरी के साथ बह्मन टोले की नाक कटाये है. और तुम हो कि हमारी नाक तक की चिंता गंवा बैठे हो. इतने पढ़े लिखे हो फिर भी...."

पिता की बात बेटे को आगे बर्दाश्त नहीं हुई, "आप मेरी बात को नहीं समझना चाहते तो आप ने क्यों पढ़ने दिया मुझे प्रेमचंद, क्यों पढ़ने दिया प्रसाद? उसी समय जान लेते कि इसे प्रेमचंद कहां लिये जा रहे हैं? अब यह हो नहीं सकता मुझसे."

मैंने उस युवक को इस तरह झगड़ते देखा है, उससे बातें की हैं और आज भी सोचता हूं तो उस ग्रामीण युवक की बात से खुश हो लेता हूं कि प्रेमचंद-साहित्य ने हमारे समाज के सोच को एक शक्ल, एक व्यावहारिक जागरूकता दी—और उनके उपन्यासों ने अगर उस ग्रामीण युवक को सामाजिक रूढ़ियों की जात-पांत में फंसी अंधवादिता से भिड़ने की ताकत दी तो वह ताकत उस एक युवक को नहीं दी, देश के हजारों हजारों लोगों को दी. जासूसी, ऐय्यारी और तिलिस्मी उपन्यासों के बीच से हिंदी उपन्यास को वे यथार्थ के उस धरातल पर ले आये जहां उनमें चित्रित समाज हर पढ़ने वाले को अपना लगने लगता है. मामूली बात नहीं थी यह. जिस 'चंद्रकांता संतति' को पढ़ने के लिए हजारों पाठकों ने हिंदी सीखी हो, उसके प्रभाव क्षेत्र से हटाकर पाठक को यह जागरण सौंप देना कि तुम चाहो तो समाज के रिवाजों को बदल सकते हो, उसके अंदर यह एहसास भर देना कि रूढ़ियों के अंधेरे में तुम लैंपपोस्ट बनकर खड़े हो सकते हो जिससे बिखरता हुआ उजाला अंधी गलियों के बंद दरवाजों तक घुसकर दस्तक दे सकता है, और यह सब यों कर देना कि पढ़नेवालों को इसका आभास तक न लगने पावे कि उनके अंदर की दुनिया में रोशनी का एक सैलाब उड़ेला जा रहा है, मित्रो, यह मामूली बात नहीं थी. इसके लिए बड़े सधे ढंग से जासूसी उपन्यासों की सी रोचकता बनाये रखकर अपने आसपास की जिंदगी को उजागर करके रखने के कौशल की दरकार थी, भाषा के स्तर पर वहां जाने की जरूरत थी, जिसे पढ़ा से पढ़ा भी पढ़े और कम से कम पढ़ा भी बिना अतिरिक्त परिश्रम के आत्मसात कर सके. यह काम प्रेमचंद ने इतनी खूबसूरती से किया कि हमारी राष्ट्रीय चेतना के वे एक प्रतीक बन गये. हम उनकी जन्मशती वर्ष पर अपने इस कथा-पुरुष को नमन करते हैं और कामना करते हैं कि कहानी से मिटता जा रहा कथा-रस वापस लौटे जो मात्र मनोरंजन न करे, समय काटने का एक जरिया मात्र न बने, वर्तमान की भ्रष्ट, सड़ी हुई मान्यताओं को बदलने का हथियार साबित हो.

बदलाव कितना जरूरी है यह हर व्यक्ति जानता है. क्रांतियों के नाम वर्ष के वर्ष अर्पित कर दिये जाते हैं, लेकिन क्रांतियों के लिए जिस कुरबानी की जरूरत होती है, वह हमारी कौम देने को तैयार नहीं है. हमारी मानसिकता स्वार्थों की अंधी दौड़ में शामिल होकर अपने अपने घर भरने का जरिया तलाश रही है. पुलिस खुद बहूबेटियों की इज्जत लूट रही है, गुंडों को सरेआम प्रश्रय मिल रहा है और हम सिर्फ उनपर बहसें करके शांत हो जाते हैं. साहित्य का असर समाज के लिए बेमानी होता जा रहा है. क्योंकि वह जिनके लिए लिखा जा रहा है उनकी उसमें दिलचस्पी नहीं रही जा रही. हिंस्र, रोमांचकारी कामुकता और शरीर के वायवी तंतुओं को सहलानेवाले सड़कछाप साहित्य की टक्कर में सुरुचिपूर्ण, सामाजिक अर्थवत्ता वाले साहित्य की बधिया बैठी जा रही है. अगर कोई यह आवाज उठाता है कि उच्चता की ओर झुका हुआ साहित्य पठनीय नहीं लिखा जा रहा तो फौरन उस पर बाजारू साहित्य की पक्षधरता का लेबिल चिपका कर छुट्टी कर ली जाती है. लेकिन सवाल अपनी जगह है कि अगर श्रेष्ठ साहित्य पठनीय शैली में नहीं लिखा जायेगा तो वह चंद मित्रों के आनंद का मसाला भर बनता चला जायेगा. वैचारिक शिविर बद्धता के नये नये पनपते कोटर उस दायरे को छोटा से छोटा बनाते चले जा रहे हैं. श्रेष्ठ साहित्य गोदामों को भर रहा है जनसामान्य तक नहीं जा रहा.

आइए, प्रेमचंद के जन्मशती वर्ष में इन पहलुओं पर गंभीरता से विचार करें कि हम जो साहित्य लिख रहे हैं, उसका पाठक कम क्यों होता जा रहा है. पाठक का कम से कमतर होते जाना साहित्य की मौत का परवाना है और हम किसी भी विचारधारा के पक्षधर हों, शायद साहित्य की मौत की मुनादी बर्दाश्त नहीं कर सकते.
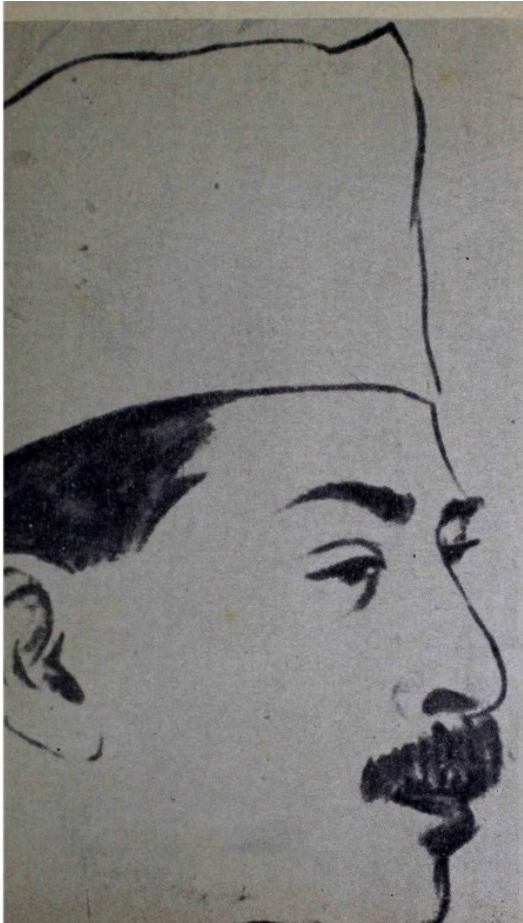
बकलम खुद

जन्म: ३१ जुलाई, १८८०
निधन: ८ अक्तूबर, १९३६

"तारीख पैदाइश संवत् १९३७. बाप का नाम मुंशी अजायबलाल. सुकूनत मौजा मढ़वा, लमही, मुत्तसिल पांडेपुर बनारस. इब्तदाअन् आठ साल तक फारसी पढ़ी, फिर अंग्रेजी शुरू की. बनारस के कालेजिएट स्कूल से एंट्रेंस पास किया. वालिद का इंतकाल पंद्रह साल की उम्र में हो गया, वालिदा सातवें साल गुजर चुकी थीं. फिर तालीम के सीगे में मुलाजिमत की. सन् १९०१ में लिटररी जिंदगी शुरू की."

"मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गड़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है. जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं उन्हें तो यहां निराशा ही होगी."

अमृतराय के साथ
कन्हैयालाल नंदन
की लंबी बातचीत

लेखन क्या परचून की दूकान जैसा उत्तराधिकार में मिला करता है?

▣ अमृतराय

कहते हैं कि वटवृक्ष के नीचे दूसरे पौधों का पनपना बहुत कठिन होता है. प्रेमचंद का पुत्र होना अमृतराय के लिए इतना तो सहायक जरूर रहा कि एक साहित्यिक माहौल उन्हें बचपन से ही मिल गया, पर बाधाएं भी कम खड़ी नहीं हुई. उनकी रचनाओं को अनायास ही प्रेमचंद की रचनाओं की तुलना में आंका जाने लगा. आलोचक 'बीज' उपन्यास की प्रशंसा करते हुए भी उसे 'गोदान' से कमतर बताते. उनकी अपनी एक स्वतंत्र प्रतिमा के पीछे प्रेमचंद के बेटे की प्रतिमा भी उन पर थोपी जाती रही. बातचीत की शुरुआत इसी संदर्भ में हुई. यह बातचीत अमृतराय के इलाहाबाद स्थित निवास पर ही हुई थी.

पिछली मर्तबा आपने कहा था कि बड़े बाप का बेटा होना गुनाह है. इतने बड़े लेखक का बेटा होने की वजह से आपको क्या दिक्कतें आयीं? या क्या सहूलियतें मिलीं?

भाई सहूलियतें क्या हुईं, यह तो मुझे नहीं मालूम. शुरू में जब मैंने लिखना शुरू किया था, आज से कोई 40-45 बरस पहले, उस वक्त प्रेमचंद का नाम लेने में मुझको शायद अपनी प्रारंभिक यात्रा में थोड़ी आसानी हो सकती थी. लेकिन मैंने आज तक अपना परिचय प्रेमचंद के बेटे के रूप में नहीं दिया. नतीजा यह हुआ कि मुझे वह सब कुछ झेलना पड़ा जो एक नये लेखक को झेलना पड़ता है. मेरा कुछ कहना बहुत उचित नहीं मालूम पड़ता, लेकिन मैं यह नहीं समझता कि जितना कुछ, और जैसा कुछ मैंने लिखा है वह अपना उचित प्राप्य पा सका है. इसलिए नहीं पा सका है कि प्रेमचंद से फौरन कहीं पर जोड़ दिया जाता है.

साक्षात्कार

मैंने जो सवाल किया था. वह इसलिए अमृतजी कि आपने तो वही पेशा—पिता का पेशा अपना लिया न, तो पिता ही प्रतिस्पर्धी बन गया आपका, लेखन में भी और लगभग प्रकाशन में भी, तो जब पिता ही प्रतिस्पर्धी बन जाये और रचनाओं के मूल्यांकन में बाधक बनने लगे तो कैसा लगता है?

कुछ नहीं. अपनी जगह पर थोड़ा-सा कभी नाखुश होते रहे, कभी उदास होते रहे. कभी लोगों की अक्ल पर तरस खाते रहे. अभी भी लोग कह देते हैं कि लेखन तो इनको उत्तराधिकार में मिला है. अब इस धारणा का क्या कोई जवाब है आपके पास? लेखन क्या परचून की दूकान जैसा उत्तराधिकार में मिला करता है? आप यह कहिए कि घर का एक परिवेश होता है, मन कहीं ढला होगा उसमें, मन में कहीं प्रेमचंद की कार्यविधि का असर भी पड़ा ही होगा. लेकिन वह तो मेरे और उनके बीच की बात है, उससे आपको क्या लेना-देना. मेरी रचना आपके सामने है. उस चीज को अगर आप परख कर सकें तो करिए, वरना अपने घर बैठिए. यह कहना कि भाषा उनको उत्तराधिकार में मिली है और लेखन की प्रतिभा उत्तराधिकार में मिली है—बहुत घटिया, बहुत छोटी, बहुत बेअकल की बातें हैं, और कुछ नहीं!

यह बात तो आप परिवेश या विरासत या परंपरा की कहते हैं, कि उसका प्रभाव मन पर पड़ा होगा. आपके पिता भारतीय गांव के युग द्रष्टा थे, उसे उन्होंने समूचे परिवेश में जांचा-परखा और दिशा दी. मगर आपने अपनी रचनाओं में कस्बे और शहर के परिवेश को अधिक महत्व दिया. इसके पीछे कारण क्या रहा? ऐसा तो नहीं रहा कि पिता की समूची छाया से बिल्कुल अलग अपने को 'स्टैबलिश' करने की कोशिश हो?

न न ...वह तो कहीं कुछ नहीं. सवाल तो यह है कि मैं अगर गांवों की कहानी लिखने की कोशिश करता तो वह झूठी हो जाती. सीधी-सी बात यह है कि गांवों में सिवाय इसके कि छुटपन में छुट्टियों में जाया करता था और दो महीने गांव रहता था, बाकी और गांव से मेरा संपर्क उस तरह का है नहीं. छोटे शहर की, कस्बे की, जो मेरा अपना परिचित परिवेश है, उसी की बात तो मुझे कहनी चाहिए.

आपकी बात छोड़ भी दें तो भारतीय गांवों को, किसान को या मजदूर को प्रेमचंदजी ने जिस धरातल पर प्रस्तुत किया था, उसको परवर्ती कहानीकारों ने भी नहीं अपनाया. सभी लोग बराबर वह परंपरा
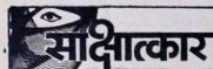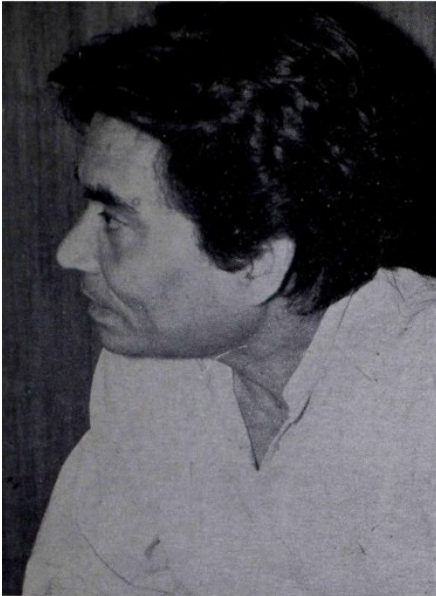
नकारते ही चले गये. ऐसा क्यों हुआ?

उसका एक बड़ा कारण तो शायद यह हो सकता है कि जैसी अंतर्दृष्टि आज के गांवों के नये परिवेश में नये सामाजिक संबंधों को समझने के लिए चाहिए थी, उससे संपन्न रचनाकार नहीं मिले. हुआ यह कि या तो गांवों के परिवेश को लेकर रूमानी ढंग से कहानियां बुनी गयीं हैं, जिनमें आप सिर्फ एक नास्टैल्जिया गांवों का पायेंगे. जो छूट चुका है, उन अमराइयों, तलइयों, छोटे-बड़े पहाड़ों की कुछ गंध अभी तक नथुनों में बसी हुई है, उनके साथ जुड़ने की जो एक भूख-प्यास होती है, उस तरह की कहानियां लिखी गयी हैं. मैं उनको छोटा नहीं कर रहा हूं. जितना कुछ वह दे पाती हैं अपने स्तर पर, वह भी मूल्यवान है. लेकिन इतना समझना होगा. कि वे गांवों के सामाजिक यथार्थ की कहानियां नहीं हैं. इसके अलावा दूसरी तरह की कहानियां शिविरबद्धता की भी कहानियां हैं. उनके साथ दुर्भाग्य यह हुआ कि वे अपनी राजनीतिक समझ के भीतर शिविरबद्ध होकर रह गयीं हैं. उससे बाहर निकलने, उसको चीरते हुए आगे बढ़कर गांवों के नये समग्र यथार्थ को पकड़ पाने का फलक उनके पास नहीं है. नतीजा होता है कि वे रचनाएं काफी प्रचारगंधी होके रह जाती हैं. विद्रोह का, प्रतिपक्ष के विद्रोह का स्वर तो उनमें होता है, लेकिन वह कुछ भंगिमा ज्यादा है. गहराई से जैसी उथल-पुथल उनको मचा दे सकनी चाहिए, वे नहीं मचा सकतीं. वह उथल-पुथल तो मचेगी तब, जब आप समग्र यथार्थ को पकड़ के उस जगह से उसे उठा पायेंगे.

आपने शिविरबद्धता की बात उठायी है. आप इसे कहानी के लिए कितना जरूरी या गैर-जरूरी मानते हैं?

यहां पर हल्का-सा स्पष्टीकरण पहले कर दूं. वह मैं नहीं करूंगा तो मेरी बात को फौरन गलत समझा जा सकता है, क्योंकि गुंजाइश पूरी रहती है. मैं भी प्रतिबद्ध लेखक हूं और मैं भी प्रतिबद्ध लेखन आवश्यक समझता हूं. लेकिन मैं उस प्रतिबद्धता को अपने लिए स्वयं परिभाषित करना चाहता हूं. मेरे निकट उसका फलक बहुत व्यापक है. किसी दल से, मतवाद से जुड़ना, वैसे जैसे किसी शिविर से बंधना, अपने लिए कोई जरूरी नहीं मानता. स्थिति को समझने की, देखने की, व्याख्यायित करने की अपनी स्वतंत्रता को रखते हुए मैं निश्चय ही जुड़े रहना चाहता हूं. अपने समाज से, लोगों के दुख-दर्द से जुड़े रहना चाहता हूं. उस प्रतिबद्धता की मैं बात करता हूं. उससे इतर प्रतिबद्धता मुझे थोड़ी घटिया स्तर की लगती है. भले ही किसी दूसरे आदमी के निकट वह प्रतिबद्धता न हो, और शायद उसके निकट मैं भटका हुआ आदमी भी हो सकता हूं. शिविरबद्ध तो मैं निश्चय ही नहीं हूं. बहुत लोग शिविरबद्ध हैं. वे सब हवा काट के चले जाते हैं.

आपके लेखन में मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि आप अपनी ही मान्यताओं को चौड़ा करते या उन्हें छलांगते हुए आगे निकलते हैं. लेखन में कुछ लोग इस अनिर्णय की स्थिति को मान्यताओं का छलावा या भटकाव कह सकते हैं. ऐसी अनिर्णय की स्थिति भी बहुत स्वस्थ नहीं होती. उसके बारे में आपका क्या खयाल है?

मैं ऐसा नहीं मानता कि मेरे यहां इस तरह की कोई चीज हुई हो. मैं जरा इसकी व्याख्या कर दूं. मैं प्रगतिशील लेखक आंदोलन से, कम्युनिस्ट पार्टी से बड़ी सीमा तक संबद्ध रहा हूं. सक्रिय रूप से काम किया है, जेल भी गया हूं. सब किया है, ट्रेड यूनियन में भी काम किया और बराबर लिखता भी रहा हूं. इसलिए यह तो संभव है कि मेरे उस काल के लेखन में आपको कहीं से राजनीति की, शिविरबद्ध राजनीति की तात्कालिक धर्मिता दिख जाये, लेकिन अगर आप जरा अच्छी तरह से मुझको पढ़ेंगे और देखने की कोशिश करेंगे तो पायेंगे कि वैसा बहुत कम निकलेगा. कोरिया का नया भूगोल, बाल-बच्चेदार कबूतर, फलाना-ढिमका... इस तरह की चीजें—वह जो आग्नेय तरह की राजनीति है. लेकिन मैंने उसको कहानी नहीं कहा. मैं समझता हूं कि अपने उस कलेवर के भीतर, अपनी मर्यादा के भीतर वह झूठी भी नहीं लग सकती किसी को. आज भी उसे पढ़ियेगा तो कहीं दिल को छूती है. लेकिन कहानी के साथ मैंने कोई खेल नहीं खेला. मैं समझता हूं कि सबसे बड़ा छद्म जो लेखक कर सकता है, वह अपने साथ करता है. मैं उसका दोषी नहीं होना चाहता. पार्टी तुमको हांक देती है तो रास्ते पर चलो. वह रास्ता मुझको नहीं दिख रहा था तो मैं नहीं चला उस पर. मुझको उतनी ही बात सच लगी, उतनी ही बात ने मुझे छुआ था, तो मैंने वही कहा. यह मुझ पर अधिकतर ऐसे लोगों का लगाया हुआ अभियोग है, जिन्होंने मुझको पढ़ने की कोशिश नहीं की.

शिविर से बंधना मैं अपने लिए जरूरी नहीं मानता

अगर प्रेमचंदजी थोड़े दिन और जिंदा रहते तो आपके हिसाब से, प्रगतिशील आंदोलन से वे कितना जुड़े रहते?

प्रगतिशील लेखक आंदोलन से वह कितना जुड़े रहते, इससे बड़ा सवाल यह है कि प्रगतिशील लेखक आंदोलन उनसे कितना जुड़ा रहता. वह तो अपने ढंग से लिखते रहते जो लिखते आये थे. अब प्रेमचंदजी क्या करते सो तो हम नहीं जानते, वे तो अल्लाह को प्यारे हो गये, उससे हमको कोई लेना-देना नहीं. लेकिन यह जाहिर है, जहां कहीं उनके विवेक को ठेस लगती तो वह आदमी अपने रास्ते चला जाता. वह व्यक्ति अपनी समझदारी, अपने विवेक, अपनी दृष्टि, अपने तत्व के साथ रहा है. और वह अकेला चलने की भी हिम्मत रखता था.

प्रेमचंद की रचनाओं में अमृतजी, आपको सबसे अच्छी रचना कौन-सी लगती है?

सबसे पहले तो मैं यह कह दूं कि मैं प्रेमचंद को उपन्यासकार से ज्यादा बड़ा कहानीकार मानता हूं.

बहुत लोग यह बात मानते हैं.

उपन्यासकार के रूप में वे बहुत बड़े थे इस मायने में कि हिंदी और उर्दू उपन्यास को उन्होंने उस जगह पर से उठाया, जहां वह तिलिस्मी और ऐय्यारी की गलियों में ही भटक रहा था—पुराने जमाने में काव्य का इपिक होता था, आज के जमाने में वह काम उपन्यास करता है कि संपूर्ण जीवन—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सारे परिवेश को अपने में समेटते हुए पूरे राष्ट्रीय जीवन को एक साथ, संगति के साथ रूपायित करता है. बहुत बड़ा काम था. उनके ढेरों उपन्यासों में ऐसे टुकड़े हैं लंबे-लंबे टुकड़े भी हैं जो विश्व के सर्वोत्तम उपन्यासों की कोटि में रखे जा सकते हैं, लेकिन मैं प्रेमचंद के उपन्यासकार को उस तरह से विश्व-कोटि का उपन्यासकार नहीं मानता, जिस तरह से कि उनके कहानीकार को मानता हूं. इस नाते वह आदमी दुनिया के 4-6 आल टाइम्स सबसे बड़े लोगों में हैं.

कौन-कौन लोग हैं वे आपकी दृष्टि में?

वे लोग मेरे नजदीक हैं: ओ'हेनरी, मोपासां, चेखव... इनमें किसी की 75-80 से ज्यादा कहानी उस पाये की नहीं हैं. मैंने सबको पढ़ा है. उतनी कहानियां प्रेमचंद के यहां, उसी पाये की हमें मिल सकती हैं. उस नाते मैं उनको वर्ल्ड्स मास्टर मानता हूं. उपन्यासकार के नाते भी बहुत बड़ा मानता हूं, लेकिन वहां वे वैसे वर्ल्ड्स मास्टर नहीं हैं. भाई, बड़ा मुश्किल है. इस तरह से आपसे बात करते मुझे लग रहा है कि ऐसे सपाट और बोल्ड ढंग से यह बात करनी भी चाहिए या नहीं!

मेरी वह बात रह जाती है, आपको उनकी रचनाओं में सबसे अच्छी कौन-सी लगती है?

ऐसी बहुत-सी कहानियां हैं. मुश्किल इस आदमी के साथ यह है कि 33 बरस तक उनकी कहानियों का फैलाव है. उसमें तरह-तरह की कहानियां हैं... एकदम पुरातनपंथी कहानियां भी हैं.

और एकदम नयी से नयी भी हैं. तो कहानियां तो ढेरों गिनी जा सकती हैं... 'पूस की रात', 'कफन'...उनकी एक बहुत अच्छी कहानी है 'मुफ्त का यश'. कोई आता है गांव से और किसी से सिफारिश करानी है. गांव में उसने सुन रखा था कि उनका कुछ रसूक है ऊपर. मेरा खयाल है, उस जमाने में पन्नालाल आई. सी. एस. के यहां मुंशीजी का आना-जाना था. कुछ चिट्ठियां भी मिली हैं. लोगों ने इसे उनके साथ भी जोड़ा. झलक आती है उसकी. कथा प्रसंग में फिर यह होता है कि कुछ काम हो जाता है. फिर वह गांव से मुंशीजी के पास रस-वस लेकर आता है और इनके बड़े-बड़े गुण गा रहा है कि 'तू न गइल होत त कइसे काम होइत. तू गइला त बड़ा काम हो गइल.' और इधर मुंशीजी का दिल कह रहा है कि यार जो काम होना था सो हो गया. मैं तो गया नहीं, कैसे कह दूं. मुफ्त का यश मिल रहा है, उसको भीतर अपने गठियाते गये. लाजवाब कहानी, बेहद खूबसूरत कहानी है. मन की बारीकी के रगो-रेशे जितनी बारीकी से उतारे गये उतनी बारीकी से और कौन उतारेगा! आजकल मनोवैज्ञानिकता का मतलब केवल सेक्स का चरबा उतारना रह गया है.

आजकल जो सेक्स का वर्णन कहानियों में मिलता है, आप जब उसे पढ़ते हैं तो कसा लगता है?

पहली बात तो मैं पढ़ता नहीं. और दूसरी बात नंदनजी, जब आप मुझसे पूछ ही रहे हैं तो बता दूं कि यह सेक्स करने की चीज है यार, लिखने की चीज नहीं है.

आप अनुभूत सत्य बोल रहे हैं या सिद्धांत?

जरूरी नहीं कि वह अनुभूत सत्य कोई दुनिया को बांटता फिरे. इसे काट देना यार, दे न देना.

नहीं नहीं अमृतजी, इसमें बुरा क्या है? यह तो बेबाक मन की बात है. ... ऐसे भी कुछ दस्तावेज लोग ला रहे हैं जिनमें यह भी है कि प्रेमचंद-जी उधार भी देते रहे और 'महाजनी सभ्यता' भी लिखते रहे. या 'सोज़ेवतन' पर भी आपने एक लेख देखा होगा. कभी उसकी प्रतियां जब्त कर दी गयी थीं या खांमखां ढोंग रचा गया...जो भी हो. या जैसे 'रानी सारंधा' में सांप्रदायिकता की गंध लोगों ने तलाश ली. तो इस तरीके से जिन वाकयात से प्रेमचंद की छवि धूमिल होती है, उसके बारे में आपकी क्या राय है?

श्रीपतराय और अमृतराय : 1936

मान लीजिये कि साहब उस आदमी ने किसी को सौ-पचास रुपये दिये भी, तो यह भी देखना होगा कि वह खुद सौ-पचास देने की स्थिति में था या नहीं, लेकिन दे रहा है. कौन जाने वह 'सेविंग एकाउंट' से निकालकर दे रहा है. थोड़ा-बहुत रहा हो तो बहुत बड़ी बात है. लेकिन कहीं से दे रहा है. वहां न देता तो कहीं और रखकर दो पैसा सूद में कमा सकता था. अगर मान लीजिये कहीं ऐसा भी है, तो है कितना, उसका क्वांटम भी तो देखिए. कुछ ताज्जुब नहीं कि वह सूद साला तो क्या, मूल भी वापस न मिला हो. और फिर यह जरूरी नहीं कि आदमी हमेशा अभाव में ही रहा हो. अगर उसके पास थोड़ा-बहुत पैसा बचा रहा, और अपने से हीन स्थिति वाले को दे रहा है, तो कौन-सा ऐसा भयानक काम कर लिया! क्या बात हो गयी, जिसका एक अफसाना बना दिया. मालूम तो कीजिए कि कितना देता था. एक तो वह है जो बराबर देता है और जिसके यहां कारिंदे लगे रहते हैं और जो मुश्कें बंधवा के वसूल कर लेता है, कोड़े लगाता है, मुर्गा बनाता है...तो वह भी दे रहा है. क्या दोनों एक ही चीज हैं? एक तो यह बात हुई और दूसरी पूछिए.

दूसरी बात यह है कि उनके अंदर सांप्रदायिकता की गंध टटोली जाती है.

सांप्रदायिकता की बात वह टटोल रहे हैं जो खुद अपने अंदर बहुत सांप्रदायिक हैं.

'रानी सारंधा' का नाम मैंने लिया है.

बताइए कौन-सी बुरी बात है? वह आदमी एक हिंदू परिवेश में पैदा हुआ है, एक वीर स्त्री के बारे में लिख रहा है. फिर ये तो जो 5 साल मुंशीजी ने उधर गुजारे हैं, उनकी कहानी लिखी है और अपने मन की सारी श्रद्धा उड़ेली है. ये आपत्ति वे लोग उठाते हैं जिनके दोहरे मानदंड हैं. ये वे लोग हैं जिनको मुसलमान सांप्रदायिकता नाम की कोई चीज नजर नहीं आती. जो सांप्रदायिकता दिखाई देती है, वह हिंदू सांप्रदायिकता ही दिखाई पड़ती है. जबकि मैं मानता हूं और हर समझदार आदमी को यह मानना होगा कि यह दोमुंहा सांप है. हिंदू सांप्रदायिता हो या मुस्लिम सांप्रदायिकता, दोनों किसी से हिब्बा बराबर, सूत बराबर घट के कम खतरनाक नहीं हैं. मैं उन लोगों में नहीं हूं जो यह मानते हैं कि अकबर और राणा प्रताप दोनों को एक फलक में रखकर देखना चाहिए. या कि औरंगजेब और शिवाजी को एक पलड़े में रखकर देखना चाहिए कि दो राजा हैं, आपस में लड़ रहे हैं और एक हार गया, एक जीत गया. कहानी इतनी आसान नहीं है. कहानी अगर इतनी आसान होती तो आज हिंदुस्तान में जूते न बज रहे होते. मैं मानता हूं कि राणा प्रताप और शिवाजी. अपनी देश की धरती के लिए लड़ रहे थे. मैं मानता हूं कि ये अकबर और औरंगजेब मूलतः विदेशी थे. इसलिए जो हमारी राष्ट्रीयता है, उस राष्ट्रीयता के भीतर से हिंदू संस्कृति के एकदम लोप होने से ही वह सेक्यूलर बनेगी, मैं उस अर्द्धसत्य को मानने वाला नहीं हूं.

अमृतजी, आप ऐसी बात कहकर जनसंघी करार दिये जाने का खतरा मोल ले रहे हैं.

कुछ भी करार दीजिये, वह मेरे साथ चिपका नहीं रहेगा. जब आपकी आंखें खुलेंगी तब आप स्वयं महसूस करेंगे कि आपने सही करार दिया या गलत करार दिया था. मुझको वह कहना है जो मुझको सही जान पड़ता है. जब इसे गलत महसूस करूंगा तो मेरे अंदर इतना साहस भी है कि मैं कह सकूं कि यह गलत है. मैं मानता हूं कि जैसी फिजा आज बनायी गयी है सेक्युलरिज्म के नाम पर, वह अवसरवादी कारणों से बनायी गयी है, वह हिंदुस्तान की आत्मा की फिजा नहीं है.

हिंदुस्तान की जिस आत्मा की बात आप कह रहे हैं, उसके लिए आज का लेखक क्या कर रहा है?

घर बैठा है.

क्या उसका घर बैठना जरूरी है?

ये तो उससे पूछिये जो बैठा हुआ है. मुश्किल यह है कि चारों तरफ जो जबर्दस्त उलझाव और भटकाव है, लेखक और बुद्धिजीवी भी उसी का एक हिस्सा हैं. हम उम्मीद अवश्य करते हैं लेखक और बुद्धिजीवियों से, कि वह उलझे और भटके हुए को एक सीधी-सच्ची समझ दे सकेंगे, अंधेरे से निकलने का रास्ता दिखा सकेंगे. लेकिन उसके लिए लेखक और बुद्धिजीवी को भी कुछ अपेक्षाएं हैं. पता नहीं आपने मेरा उपन्यास 'धुआं' देखा या नहीं. आज की स्थिति के ऊपर बहुत तिरमिरा के लिखा हुआ उपन्यास है जो देखने से ताल्लुक रखता है...

मेरे खयाल से उसको छपे दो साल हो गये. पर जितनी अहमियत उसे मिलनी चाहिए थी, उतनी उसकी चर्चा नहीं हुई.

उतनी क्या, बिल्कुल नहीं हुई. लेकिन उसको पढ़ने वाले हैं. इन दो वर्षों में कोई चौदह-पंद्रह सौ कापी छपी हैं. हमारा कोई ऑर्डर ऐसा नहीं आता जिस-में एक-दो कापी 'धुआं' का ऑर्डर न हो. इसका मतलब है कि वह पढ़ा जा रहा है. लेकिन जो चर्चा करने वाले महानु-भाव हैं, उनकी दृष्टि से वह कहीं कुछ नहीं है. शायद इसलिए कि मैं किसी के शिविर में नहीं आता, किसी के शिविर में आता होता तो शायद कहीं कोई उछाल आ जाता.

अमृतजी, शिविरहीनता या निर्गुट होना भी एक तरीके की शिविरबद्धता है...

और किसी के लिए हो, मेरे लिए नहीं. मैं जानता हूं, शिविरबद्ध आदमी रहा हूं, लेकिन उसमें भी अपने विवेक से रहा हूं. जहां उसका हनन होता दिखाई दिया, छोड़ दिया.

आप समझते हैं कि लोग शिविरों में होते हैं तो विवेक को बेचकर वहां रहते हैं?

नहीं, ये तो मैं नहीं मानता. लेकिन उनका विवेक मेरा विवेक तो नहीं है.

पुरानी बात पर लौटता हूं, 'सोज़ेवतन' वाली बात पर. उसके बारे में कहा गया कि उसकी प्रतियां जब्त नहीं हुई थीं, खांमखां एक ढकोसला किया गया था.

बकवास है. पता नहीं ऐसा कहने वाले आदमी ने कहां से तथ्य पाये. मैं नहीं जानता. इसकी तफ्तीश मैंने बहुत पहले की थी, जब मैं प्रेमचंद पर काम कर रहा था, और उससे भी बहुत बरस पहले जबकि मुंशी दयानरायन जिंदा थे उन्होंने 'सोज़ेवतन' छापा था. उनसे पूछ चुका हूं. उनके संकेत के आधार पर मैं कह सकता हूं कि वह छपी और जब्त हुई. कुछ प्रतियां बचा ली गयी थीं. मुंशीजी उस जमाने में हमीरपुर में सब डिप्टी इंस्पेक्टर ऑव स्कूल्स थे. उनके इंस्पेक्टर ऑव स्कूल्स थे एक मिश्राजी. उनके बेटे ओंकारनाथ मिश्र इलाहाबाद में कुछ दिन कलक्टर रहे हैं. उनसे सामाजिक स्तर पर मिलने-जुलने के क्रम में एक दिन उन्होंने बताया कि उस वक्त 'सोज़ेवतन' वाला जो मामला फंसा था, उसमें बिचवाई करके मेरे पिताजी ने ही उसे खत्म करवा दिया

साथ मर सकता था

▣ शिवरानी देवी

एक दिन की बात है. कुआंर का महीना था. हथिया बरस रहा था. मकान गिर रहे थे. रह-रहकर हुम्म की आवाज सुनाई पड़ती. हम चार आदमी साथ ही एक मकान में बैठे थे कि मकान गिरेगा तो फिर जो कुछ होगा हम साथ ही खतरा उठायेंगे. दूसरे रोज किसी तरह पानी निकला. आप स्कूल गये.

हेडमास्टर बोला, "कल आप क्यों नहीं आये?"

"साहब, उधर पानी बहुत तेज था."

"क्या आप नमक थे जो गल जाते?"

"मैं नमक तो नहीं था, हां, मेरे पड़ोस के मकान गिर रहे थे, मुमकिन है, मेरा मकान भी गिर पड़ता."

"क्या आप रह कर उसे गिरने से रोक लेते?"

"रोक तो नहीं सकता था. हां, साथ मर सकता था." □

था. ओंकारनाथ मिश्र अभी भाग्यवश जिंदा हैं. आजकल कहां हैं, मुझे नहीं मालूम. लेकिन कोई भी पता लगा सकता है. जो साहब इस तरह की ऊटपटांग बातें यहां-वहां से उठा लाते हैं, उनके लिए बेहतर होगा कि इसकी अच्छी तरह से जांच-पड़ताल करवा लिया करें. मुंशीजी ने जब इस बात को लिखा है, तब बिल्कुल ही यह कह देना कि यह नाटक रचा गया, ऐसी टिकियाचोर मनोवृत्ति की ओर इशारा करना है जो किसी लेखक के लिए बहुत घटिया मालूम होती है.

प्रेमचंदजी के मूल्यांकन में या उनके विरोधी स्वरों में क्या कभी आपको जातिवादी गंध भी देखने को मिली है?

न हम ऐसा मानना चाहते हैं न, हमने इसकी कभी पड़ताल की. यह एक ऐसी चीज है जो जांच-पड़ताल करके ही जानी जा सकती थी. जातिवादिता हमेशा बहुत ढकी-छुपी आती है, और काफी जब उसको काटें-छांटें, तभी दिखाई पड़ती है. हमको कभी ऐसा करने की जरूरत नहीं हुई. असल में जो लेखक जनता के बीच पहुंच जाता है, जनसाधारण जिसको उठा लेता है, उसको इस सबसे ज्यादा लेना-देना नहीं रह जाता. उनके पाठकों की बड़ी दिलचस्प कहानियां हैं मेरे पास.

एकाध...?

एक ही मिसाल दूं. लगभग 22 वर्ष पहले मैं हैदराबाद गया था. हमारे एक दोस्त, प्रगतिशील लेखक संघ के अग्रणी कार्यकर्त्ता श्रीनिवास लाहौटी मुझको ले गये नवाब मेंहदी नवाज जंग के यहां. बड़ा खूबसूरत उनका घर था बंजारा हिल्स में. किसी रूसी आर्किटेक्ट ने बंजारा हिल्स की एक चट्टान को ही दीवार बना दिया. परोक्ष में उन्होंने कहा ही होगा कि प्रेमचंद का बेटा है, जरूर कहा होगा. क्योंकि जब मैं घर पहुंचा तो अभी उनके दीवानखाने में बैठा भी नहीं था ठीक से, कि वहां बड़ी बेगम साहिबा, जो बिल्कुल सफेद हो गयी थीं बालों से, उन्होंने ओफ्फो, कितनी मुहब्बत से मुझे गले लगाया और मेरी बलइयां लीं, मेरा माथा चूमा और बोलीं, 'आज तो बेटे मैं निहाल हो गयी. मैं 13-14 बरस की उमर से मुंशीजी को पढ़ती चली आयी हूं. उनको देखना मयस्सर नहीं हुआ, लेकिन आज तुमको देख लिया...' तो ऐसे उनके पाठक थे. कहां नहीं हैं! यह है असली कहानी. आपके देखे न देखे या किसी के देखे न देखे क्या फर्क पड़ता है.

आपको प्रेमचंद-प्रेमचंद सुनते-सुनते इतना जमाना गुजरा जा रहा है, इससे कोई ऊब नहीं होती?

अभी तो नहीं हो रही थी, क्योंकि बहुत दिलचस्प तरह की बातें हो रही थीं. फिर प्रेमचंद जन्मशती वर्ष में अगर प्रेमचंद की बात मुझसे अधिक की जाती तो समझ में आने वाली बात है. एक दूसरा आयाम भी है. वह यह कि मैंने प्रेमचंद पर काम किया है. 'कलम का सिपाही' लिखा. उस सिलसिले में साढ़े तीन हजार पन्ने मैंने कोई प्रेमचंद में नये जोड़े जो कि लुप्त थे या लुप्तप्राय थे और देखता हूं कि जगह-जगह लोग अपने ही जुमले दोहराते हुए सुने जाते हैं. मुझसे प्रेमचंद की बात कहते हैं तो वह क्षम्य है. यों प्रेमचंद की विरासत का बोझ ढोना अपने को कभी-कभी भारी भी लगने लगता है. और यह कहने को जी करता है कि भाई, प्रेमचंद जैसे भी थे, जो भी कहा उन्होंने, कहकर इस दुनिया से चले गये. उनकी बात उनके साथ गयी. मैं भी एक छोटा-मोटा लेखक हूं. मैंने भी कुछ लिखा है. क्यों खांमखां प्रेमचंद को घसीटते हो मेरे साथ. उस आदमी को भी छोटा करते हो, मुझको भी छोटा करते हो!

(पृष्ठ ७३ पर जारी)

बकबक मत करो

■ शिवरानी देवी

एक बार की बात है, मैं बस्ती जा रही थी. आप बीमार ही थे. रात का समय था. पेट भारी था. हम तीन आदमी थे. गाड़ी में भीड़ बहुत थी. उनके लिए मैंने बिस्तर लगा दिया. वे लेटे हुए थे. लड़की भी सोयी हुई थी. दो मुसाफिर आये. बोले, "औरों को बैठने की जगह नहीं. पर यह सो रहे हैं!"

मैंने कहा, "तुम भी कहीं बैठ जाओ."

"उनको उठा दो."

"उनकी तबीयत अच्छी नहीं है."

"जब तबीयत ठीक नहीं थी तो चले क्यों थे?"

"बकबक मत करो."

"गाड़ी का किराया तुम्हीं ने दिया है?"

"अच्छा, जहां तुम्हें जगह मिले वहां बैठो."

"इन्हें उठाकर बैठेंगे."

"उठाओ, मैं जरा देखूं तो."

वह आगे बढ़ा. मुझे क्रोध आया. मैंने कहा, "खबरदार, अगर आगे हाथ बढ़े तो गाड़ी के नीचे झोंक दूंगी."

हम दोनों की बातों से उनकी नींद खुल गयी और उन्होंने हड़बड़ाकर उठना चाहा. मैंने कहा, "आप क्यों उठते हैं?"

आप बोले, "उठ जाने दो, क्यों लड़ाई करती हो?"

मैंने कहा, "इन गधों से सीधे काम न चलेगा. ये इंसान नहीं, हैवान हैं. ये जार दिखाना चाहते हैं, मैं इन्हें झोंक दूंगी."

जब उन लोगों ने मुझे क्रोध में देखा तो दबकर खड़े रहे. वे लोग कई स्टेशन तक खड़े-खड़े ही गये. जब वे गाड़ी से उतर गये तो मुझसे बोले, "तुम बड़ी दिलेर हो, मेरी हिम्मत इस तरह धमकी देने की न पड़ती." □

आज प्रेमचंद की जरूरत क्या है ?

● अमृत राय

प्रेमचंद को महनता के बोध से कायल होकर ही देखा जाये, यह जरूरी नहीं. परंतु उनकी रचनाओं में उभरी दुनियावी दुख-सुख की तरफदारी को नजरअंदाज करके यह कहना कि ये पुरानी बातें हैं, इसलिए इनका लेखक भी बासी है!...यह कहां तक उचित या अनुचित है? आइए देखें, इस बारे में अमृतराय क्या कहते हैं—

इधर प्रेमचंद की समसामयिक प्रासंगिकता को लेकर कुछ छुट-पुट आलोचनाएं हुई हैं. इन छोटे-छोटे अदारों में कहा जा रहा है कि प्रेमचंद अब तारीखी और बासी हो गये हैं; उनका बोध आधुनिक नहीं है! उनका लेखन फीका और सपाट है, उसमें बस एक ही आयाम है, कोई मनोवैज्ञानिक गहराई नहीं, इसमें आदमी के चरित्र की वह पेचीदगियां नहीं हैं जो यथार्थवादी आधुनिक लेखन की सबसे बड़ी खासियत होती है, ज्यादा से ज्यादा उस लेखन को एक समाज-सुधारक अथवा समाज-प्रचारक का लेखन कहा जा सकता है. इनका कहना है कि वह मूलतः एक कथावाचक हैं. परंतु अब यह कालदोष है; अब कहानियां सुनायी नहीं जातीं, लिखी जाती हैं, इसलिए आधुनिक कहानी प्रेमचंद से काफी आगे निकल गयी है—एक तरफ इसमें निश्चित युक्तियुक्त स्थितियां हैं, दूसरी तरफ नयी कहानी में यथार्थ को समझने की गहरी पैठ है, जो प्रेमचंद की कहानियों में नहीं हैं.

दरअसल, अपने जीवन काल में ही उन्हें इस तरह की आलोचनाओं का सामना करना पड़ा था. उनकी रचनाओं में भी कहीं-कहीं ऐसे चुनौती भरे वक्तव्य मिलते हैं, जिनमें उन्होंने सभी कलाओं को प्रचार का माध्यम सिद्ध करके अपने आलोचकों को मुंह तोड़ जवाब दिया है. वस्तुतः 'कला बनाम प्रचार' का मसला ही इस विवाद की जड़ लगता है, और प्रेमचंद अपने पक्ष में रत्ती भर भी झुकने को तैयार नहीं दिखते. एक लेख में उन्होंने कहा है:—

"अगर हम किसानों के बीच रहते हों या हमें ऐसा मौका मिले, तब स्वाभाविक तौर पर हम उनकी खुशी को अपनी खुशी समझने लगते हैं...परंतु इसे यह मान लिया जाये कि फलां आदमी किसानों तथा कामगारों अथवा किसी आंदोलन का प्रचारक है, तो यह अन्याय है. इस दिशा में प्रचार और साहित्य में अंतर की ओर इशारा कर देना महत्वपूर्ण होगा...प्रचार का रसास्वादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें सच्ची अनुभूति का अभाव होता है. मगर कोई कुशल कलाकार इसमें अनुभूति और खूबसूरती, दोनों उतार दे तो इसे महज प्रचार कहकर नकारा नहीं जा सकता, यह बेहतरीन साहित्य बन जायेगा."

प्रेमचंद ने विचारों का जिस दृढ़ता से पालन करके उन्हें अपनी रचनाओं में उतारा, उससे आलोचकों का एक खास तबका किसी न किसी वजह से क्षुब्ध हो उठा. इन आलोचकों के जेहन में उच्च वर्ग से संबंद्ध परंपरागत

साहित्य की एक धारणा रही है और वे अपनी पहचान को आम लोगों से जोड़ना पसंद नहीं करते. लेखकों और बुद्धिजीवियों के इस तबके के लिए आम आदमी व्यर्थ अथवा एक दैवी अभिशाप है. वह गंवार है, वह उनकी दुनिया में कैसे बस सकता है. वह जाहिल है, इसलिए इस दुनिया से उसका कोई सरोकार नहीं. इसलिए बढ़िया तरीका यही है कि उससे दूर रहा जाये. परंतु प्रेमचंद के मन में ऐसी कोई ग्रंथि नहीं थी. वह आम लोगों में से ही थे और उन्होंने उनमें से एक होते हुए ही उनके लिए लिखा. उनके मन में ऐसा कोई भय नहीं था कि लोग इतने रूखे और गंवार हैं कि वे उन्हें समझने लायक नहीं अथवा उनकी रचनाओं का रसास्वादन करने और उनकी सुरुचिपूर्ण बातों की प्रशंसा करने लायक नहीं हैं.

परंतु प्रेमचंद का साहित्य समकालीन संदर्भों की कसौटी पर भी खरा उतरता है. इसका कारण बहुत सीधा-सा है. प्रेमचंद ने जिस भारत का अपनी रचनाओं में चित्रण किया है वह कमोबेश अब भी वही है. 'कफन' 'पूस की रात' कहानियों में गरीबी में पिसते जिन लाखों गरीबों का सशक्त चित्रण किया गया है, वे अभी भी बिलकुल वैसे ही हैं. गांव में जमींदार, साहूकार पटवारी तथा गांव की दुर्व्यवस्था के जिम्मेदार दूसरे छोटे अफसरों द्वारा क्रूर शोषणवाली व्यवस्था अभी भी मूलतः वही है, जिसका प्रेमचंद ने अपनी दर्जनों कहानियों और 'गोदान' तथा प्रारंभिक उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में विविधतापूर्वक चित्रण किया है. गांधीजी के हृदय परिवर्तन के सिद्धांत को अपनाने से हालांकि उनकी रचनाओं में कुछ त्रुटियां भी आयी हैं, पर वे सभी स्थितियां अब भी लगभग वैसी की वैसी हैं. छोटे किसान को कंगाल बना दिया दिया जाना, अपनी जमीन छोड़कर उसका मेहनत-मजदूरी करने शहर जाना,वह चाहे कारखाने में मजदूर या घरेलू नौकर, जो भी वह बना हो किंतु उसका मन इस कदर पीछे ही भटकता रह जाता है कि मरने के बाद उसकी रूह जमीन के उस छोटे से टुकड़े पर ही मंडराती रहती है. . .जो कभी उसकी थी और जिसे वह अपनी मिल्कियत में नहीं रख सका. 'बलिदान' कहानी का यह चित्रण अभी भी कितना सच्चा जान पड़ता है. गांव के आम लोगों के दिलों में छायी अंधविश्वास और जादू-टोने की गुलामी जिसका वर्णन 'वरदान' उपन्यास में किया गया है, अभी भी उतनी ही अंधियारी और बलवती है, जितनी कभी पहले रही होगी. जवान विधवा का क्रूर सामाजिक रूढ़ियों के कारण जीवन भर विधवा बने रहना, जो 'प्रतिज्ञा' का मुख्य विषय है, आज भी बरकरार है.

▣

एक जवान लड़की का बूढ़े आदमी से ब्याहा जाना, जो 'निर्मला' की कहानी है, अभी भी इस देश में कई युवा औरतों की व्यथा गाथा है. लाखों-करोड़ों नहीं तो हजारों युवा लड़कियां सामाजिक पिछड़ेपन और ऊंच-नीच के अन्याय के कारण 'सेवासदन' उपन्यास की सुमन की तरह रंडियो के कोठे तक पहुंच जाती हैं. कारखाना लगाने के लिए किसान को बेदखल करके जमीन हथियाना और उसके खिलाफ 'रंगभूमि' उपन्यास के सूरदास के संघर्ष पर जब कोई विचार करता है तो यह परिस्थिति आज और भी सही प्रतीत होती है. सूरदास समझता है कि यह समाज के लिए एक बुराई है और वह इसके खिलाफ लड़ता है. उस वक्त तो यह सिलसिला सिर्फ शुरू ही हुआ था, आज यह और भी बड़ा सच है, क्योंकि हम देख रहे हैं कि पूंजीवादी औद्योगीकरण से हमारे चेहरों की धज्जियां उड़ रही हैं, सामाजिक और नैतिक मूल्य टूट रहे हैं और भारतीय समाजशास्त्री मिल-बैठकर यह सोचने को बाध्य हो गये हैं कि क्या औद्योगीकरण का मात्र यही रास्ता है?

'कायाकल्प' 1926 में लिखा गया. तब कांग्रेस मंत्रिपरिषद में शामिल होने के सवाल पर गौर कर रही थी. राजनीतिक सत्ता की भूख इस उपन्यास का मुख्य विषय थी. यह महज आत्माओं के पुनर्जन्म की कहानी नहीं, जैसा कि प्रतीकात्मक कथानक की वजह से प्रतीत होता है, अपितु यह उन नेताओं, महत्वकांक्षाओं, लालची और आत्म-केंद्रित व्यक्तियों की कहानी है जो एक बार राजनीतिक शक्ति मिलते ही किस प्रकार रंग बदलकर विकृत हो जाते हैं. इसे इस वक्त हू-ब-हू घटित होते और भारतीय राजनीति में आतंक का केंद्र बनते देखा जा सकता है.

अपने आपको अपनी हैसियत से अधिक अमीर दिखाने के दुराग्रह से 'गबन' उपन्यास का रामनाथ सरकारी धन में घपला करके अपराधी बन जाता है और फिर उसकी मुसीबतों का कहीं अंत नहीं होता. महिलाओं में गहनों की असीम लालसा इन दिनों एक आम बीमारी बन गयी है. यही असली मुसीबत की जड़ है. रिश्वत हमारे जीवन का एक अंग बन चुकी है और कदम-कदम पर इसका सामना करना पड़ता है. यह कोई नयी बात नहीं रही, यह पहले भी थी. प्रेमचंद की कहानी 'नमक का दारोगा' अभी भी हमारे जीवन को दर्शाती है, क्योंकि अभी भी यह एक कड़वी सच्चाई है.
और जब कोई लेखक ऐसा करने में सफल हो जाता है तो वह इतनी जल्दी बासी नहीं पड़ सकता.

ये सारी बातें तो उनके साहित्य की वस्तु से संबद्ध थीं. अब जरा विधा पर भी गौर करें. उन पर यह आरोप भी लगाया गया है कि उनकी कहानियां अप्रचलित हो गयी हैं, क्योंकि वह कहानी सुनानेवाली परंपरा पर आधारित हैं. सबसे पहले देखने लायक बात यह है कि प्रेमचंद का लेखन तीस वर्षों के अंतराल में फैला हुआ है और इसमें 'प्रश्नोत्तर माला' में 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' कहानी से लेकर हर प्रकार की कहानियां हैं. उनकी शुरू की कुछ कहानियां पुरानी तिलस्म और इश्क आदि से भरपूर हैं, जिनमें राजकुमार, राजकुमारियां और योगी और शेर के अकस्मात आदमी की शक्ल में बदल

साहित्यकार का दर्जा

"हमें अक्सर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं—अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए. सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है. और बड़े-बड़े अमीर और मंत्रिमंडल के सदस्य उनसे मिलने में अपना गौरव समझते हैं, परंतु हिंदुस्तान तो अभी मध्ययुग की अवस्था में पड़ा हुआ है. यदि साहित्य ने अमीरों का याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आंदोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो जो समाज में हो रही हैं—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हंसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है."

—प्रेमचंद

जाने जैसे आलौकिक विषय हैं. परंतु एक तो इस तरह की कहानियां बहुत कम हैं, दूसरे पुरानी विधा के अपने स्वरूप के बावजूद, जैसा कि 'शिकारी राजकुमार' कहानी में है, इन कहानियों का मुख्य विषय हमेशा कुछ न कुछ नया और और समसामयिक रहा है, जिससे कहानी का सारा कथ्य ही बदल जाता है. इसमें कोई शक नहीं कि इनमें से कुछ कहानियां पुरानी पड़ जायेंगी—असल में तो वे पहले ही पुरानी पड़ चुकी हैं. परंतु उनकी अधिकांश कहानियां दैनिक जीवन के सीधे-सादे क्रियाकलापों पर बड़े सादा ढंग से लिखी गयी हैं और इस सादगी में भी काफी विविधता है.

संक्षेप में—प्रेमचंद का हमारे लिए आज भी उतना ही प्रासंगिक होने के पीछे सबसे बड़ी खूबी यही है कि लोगों से उनका घनिष्ठ संबंध था—और चूंकि यह संबंध उन्हीं लोगों का एक अंग होने के नाते था, इसलिए यह गतिशील भी था. प्रेमचंद इसी गतिशीलता के कारण हमारे समय में भी जीवित हैं.

प्रायः होता यह है कि कुछ समय बाद लेखक सोचने के अपने तौर-तरीकों में ही सिमटकर रह जाता है किंतु प्रेमचंद के साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ. भारत के नवनिर्माण के बारे में उनके विचारों की यात्रा पश्चिम बंगाल में 'स्वदेशी आंदोलन' के प्रति उनकी जोरदार कशिश से शुरू हुई, जिसे अंग्रेजों ने बंगाल में उग्रवादी आंदोलन का नाम दिया था. तब पहली और महत्वपूर्ण जरूरत थी—देश की आजादी. समाज-सुधार का मसला तो बाद का मुद्दा था. इसलिए जो कोई भी आजादी के लिए जिस किसी तरीके से भी जद्दोजहद कर रहा था, प्रेमचंद ने उसका साथ दिया. उन क्रांतिकारियों के बारे में इस गहन सहानुभूति को प्रेमचंद की उस समय की रचनाओं में देखा जा सकता है. 'सोजे-वतन' की कहानियों पर प्रतिबंध लगाकर इसकी प्रतियों को जब्त कर लिया गया और इन्हें जला दिया गया. . . प्रेमचंद ने गांधीजी के नेतृत्व को स्वीकार किया, क्योंकि वह राष्ट्रीय आंदोलन के कुछ नेताओं को 'आलीशान बैठकों' से निकाल कर बाहर ले आये थे और इसके तहत लोगों को जागृत करके उन्हें साथ ले रहे थे. यह साफ तौर पर एक बहुत बड़ा कदम था.

गांधीजी के विचार किसी हद तक उनके मन को छू गये, क्योंकि ये यथार्थवादी और नतीजे तक पहुंचानेवाले थे. ऐसे वक्त पर भी जबकि वह गांधीजी के प्रति पूर्णनिष्ठा रखते थे, तब भी वह आंखें मूंदकर उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार करने को तैयार नहीं थे. प्रेमचंद गांधीजी के 'रामराज्य सिद्धांत' से संतुष्ट नहीं थे. उन्होंने इसकी अपनी तरफ से व्याख्या की.

प्रेमचंद मानते थे कि पीड़ित किसानों और कामगारों को और कष्ट नहीं भोगना चाहिए. अमीर वर्गों द्वारा उनका शोषण जरूर बंद होना चाहिए और इस दिशा में रूस की क्रांति ने कुछ बड़ा काम कर दिखाया, प्रेमचंद ने उसकी सराहना की. मुख्य बात लोगों के प्रति प्रेमचंद की अटूट प्रतिबद्धता थी. यह उनकी प्रतिबद्धता ही थी कि राष्ट्रीय आंदोलन के चरम शिखर पर 1931 में लिखी गयी उनकी कहानी 'आहुति' का मुख्य पात्र कहता है कि. . . यदि पैसे की ताकत और शिक्षित वर्गों की खुदगर्जी देश के आजाद होने पर भी आज की तरह ही बनी रही तो मैं कहूंगा कि देश कभी आजाद न ही हो तो अच्छा है! ब्रिटिश सरमायेदारों का लालच और हमारे शिक्षित तबके की खुदगर्जी हमें मार रही है. अपनी जान की बाजी लगाकर जिन बुराइयों से हम जूझ रहे हैं, क्या लोग उन्हें महज इसलिए स्वीकार कर लेंगे कि वे विदेशी नहीं, हिंदुस्तानी हैं? कम से कम मेरे लिए स्वराज्य के यह मायने कभी नहीं कि जॉन की जगह पर गोविंद को बैठा दिया जाये!

इस तरह हम देखते हैं कि प्रेमचंद अपनी गतिशीलता और भविष्य को देखने की अपनी इस क्षमता से वर्तमान में भी खरे उतरते हैं और आनेवाली कई और पीढ़ियों के लिए भी वह इसी तरह सही और सार्थक सिद्ध होंगे. □

● प्रस्तुति : सत्येंद्र शर्मा

प्रेमचंद के बाद ऐसी जबान किसी ने नहीं लिखी

▣ भीष्म साहनी

"प्रेमचंद की रचनाएं पारखियों की कसौटी पर खरी उतरें या न उतरें उनके रचनात्मक व्यक्तित्व से रोशनी ही फूटती नजर आती है." हिंदी के सुप्रसिद्ध कथाशिल्पी श्री भीष्म साहनी के साथ आइये प्रेमचंद के रचना संसार का एक जायजा लें और देखें कि आज भी हमें प्रेमचंद अपने जैसे ही क्यों लगते हैं.

प्रेमचंद की अनेक रचनाएं ऐसी हैं, जिन्हें मैं बार-बार पढ़ना चाहूंगा. वे सचमुच बेजोड़ हैं, उनमें जिंदगी की सच्चाई झलकती है, उनका दर्द सच्चा दर्द है, उनमें गहरी मानवीयता और सद्भावना पायी जाती है और वे जीवन की कोख में से ही जन्म लेकर निकली रचनाएं हैं. उन्हें पढ़ते हुए लगता है कि उनका लेखक जीवन का मर्म जानता था.

मुझे प्रेमचंद की जबान भी प्रभावित करती है, उसमें मुहावरा है, लोच है, बोलचाल की जबान में पायी जाने वाली सूझ है, दानिशमंदी है. प्रेमचंद के बाद ऐसी जबान किसी ने नहीं लिखी, क्योंकि भाषा के प्रति जो खुलापन प्रेमचंद में था और जैसा रचनात्मक प्रयोग वह कर पाये, और भाषा की जैसी पकड़ उनमें थी, वैसी बाद में देखने को नहीं मिली.

और फिर कौन है जिसका अनुभव क्षेत्र इतना विशाल रहा हो, जिसने इतनी अधिक संख्या में पात्र और स्थितियां और कथानक जुटाये हों, जितने प्रेमचंद ने. एक अंग्रेज लेखक, डेविड रुबिस ने तो लिखा है कि प्रेमचंद का रचना संसार महाकाव्यीय क्षितिजों (एपिक होराइजंस) को छूता है, जितनी विविधता उनके पात्रों में पायी जाती है उतनी शायद ही कहीं और मिले.

पर सर्वोपरि, उनकी दृष्टि मुझे प्रभावित करती है, वह उदात्त जीवन दृष्टि, जो अपने तक सिमटी न रहकर अपने समूचे परिवेश को अपने में समो लेती है, उसे अंगीकार कर लेती है. दूसरे शब्दों में कहूं तो प्रेमचंद का प्रखर रचनात्मक व्यक्तित्व मुझे प्रभावित करता है, जो उनकी रचनाओं में झलकता है. उनकी रचनाएं पारखियों की कसौटी पर खरी उतरें या नहीं उतरें, उनके रचनात्मक व्यक्तित्व से तो मुझे रोशनी ही फूटती नजर आती है. जिस संवेदन और गहरी मानवीय सद्भावना ने उनकी रचनाओं को उत्प्रेरित किया, वह आज भी दिल पर गहरा असर करती है.

अनेक ऐसी रचनाएं भी हैं, जो मुझे संतुष्ट नहीं करतीं, जिनसे मुझे झेंप सी होती है, जैसे हृदय-परिवर्तन वाली रचनाएं या उनके पहले दौर की कहानियां, जिनमें अनेक स्थल बनावटी हैं और जो अपनी आदर्शवादिता के सहारे गढ़ी गयी हैं, लेकिन ऐसी रचनाओं में भी उनके दिल की धड़कन और देश की नियति से उनका गहरा लगाव, कहीं न कहीं छू जाता है.

मेरे लिए प्रेमचंद आज भी प्रासंगिक हैं. हम अक्सर प्रेमचंद की प्रासंगिकता की बात उठाते हैं. वास्तव में कुछ दोस्त उन्हें अप्रासंगिक मानते हैं, इसलिए नहीं कि जो कुछ प्रेमचंद ने लिखा, वह अप्रासंगिक हैं, बल्कि सामाजिक प्रश्नों से जुड़ा हुआ लेखन ही उनकी साहित्यिक दृष्टि के अनुसार अप्रासंगिक हो गया है. देश तो वही है, जिसमें पहले प्रेमचंद और आज हम सांस ले रहे हैं, समस्याएं भी वही हैं, जो मुंह फाड़े पहले प्रेमचंद के सामने और आज हमारे सामने खड़ी हैं, समाज का ढांचा भी बहुत कुछ वही है, प्रथाएं, चिंतन, मूल्य भी बहुत कुछ वैसे के वैसे हैं, केवल हम समाज में से निकल आये हैं, समाज से ऊपर उठ आये हैं, हमारी जिज्ञासा आध्यात्मिक हो गयी है. इन बुलंदियों पर से देखते हुए हमें प्रेमचंद छोटे और अप्रासंगिक लगने लगे हैं. इस तरह प्रेमचंद हमारे लिए असंगत हो गये हैं. पर जहां जिंदगी की जद्दोजहद अभी भी चल रही है, वहां प्रेमचंद असंगत नहीं हुए हैं, जिंदगी से जूझनेवाले लोगों के बीच वह अब भी बराबर बने हुए हैं. हमारी वर्तमान समस्याओं के बारे में प्रेमचंद हमसे कहीं अधिक चिंतित और उद्विग्न हैं, जबकि हमने तटस्थता अपना ली है, भले ही वह भूख की समस्या हो, या जात-पात की, या सांप्रदायिकता की, या स्त्रियों के प्रति अन्याय की, वरना 'कफन', 'ठाकुर का कुआं' और 'पूस की रात' जैसी कहानियां आज क्यों नहीं लिखी जातीं? सामाजिक समस्याओं पर लिखी कहानियां भी इन्सानी रिश्तों की ही कहानियां होती हैं. और इन्सानी रिश्ते भी कभी साहित्य में असंगत हुए हैं?

वास्तव में हम उस जिंदगी से दूर हुए हैं, जिससे प्रेमचंद जुड़े हुए थे. गांव के कार्यकलाप से मैं वाकिफ नहीं हूं. उन रिश्तों से, रस्म-रिवाजों से, टूणे-टोटकों से, गांव के बोलचाल के मुहावरों से. मैं नहीं जानता मंदिरों में क्या होता है, मेरी जानकारी सुनी-सुनायी है, मैंने स्वयं उन्हें तुच्छ मान, जानने से इन्कार किया है. मैं किसान के दिल की थाह नहीं पा सकता. मेरे आस-पास बसने वाले पात्रों से मैंने अपने को दूर कर लिया है. ले-देकर कुछ शहरी लोगों को जानता समझता हूं, घर के नौकर को, दफ्तर के बाबू को, सरकारी अफसर को, वह भी एक छोटे से परिवेश में, और बहुत कुछ सतही तौर पर. हम अपने पात्रों को उत्तरोत्तर अमूर्त बनाते जा रहे हैं. अपने अत्यंत संकुचित अनुभव के आधार पर ढूंढ़-ढूंढ़कर, खोद-खोदकर, किसी घरेलू नौकर को निकाल लाते हैं, जिसके साथ हमने कभी अन्याय किया था या सड़क पर घटनेवाली किसी घटना को. उसी को खींच-तानकर जसे-तैसे सामाजिक यथार्थ की कहानी बना लेते हैं. प्रेमचंद की रचनाओं में छोटे-छोटे पात्र और छोटी-छोटी घटनाएं भी सजीव हो उठती हैं, अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाती हैं. इधर मैं स्वयं ही अपनी कहानियों का केंद्रीय पात्र बनता जा रहा हूं, तरह-तरह की परछाइयों से घिरा हुआ. आज कहानी जितनी अधिक आत्मकेंद्रित हुई हैं, उतनी ही अधिक धुंधली और अस्पष्ट भी.

इस पर तुर्रा यह कि हम एक ओर प्रेमचंद की अप्रासंगिकता की बात करने लगे हैं और दूसरी ओर उसके छुटपन की. वह सूद पर पैसे उधार देता था, पाखंडी था, अपनी स्त्री को छोड़कर एक विधवा युवती को ब्याह लाया था, निर्दयी था, खुद घोड़े पर सवार गांव-गांव स्कूलों के निरीक्षण पर जाता था और साथ में घोड़े के साईस बालक को मीलों दौड़ाता फिरता था. उसका भंडाफोड़ करने का उसकी जन्मशती से बेहतर मौका कब हाथ लगेगा?

मैं नहीं जानता कि वास्तव में हम स्वयं छोटे हुए हैं या प्रेमचंद के छुटपन को केवल आज हम पहचानने लगे हैं. जिन बुलंदियों पर हम विचरने लगे हैं, वहां से प्रेमचंद निश्चय ही हमें बौना नजर आयेगा.

कौन जाने हम सचमुच ही प्रेमचंद को अपने स्तरीय साहित्य में से धकेलकर बाहर निकालने में सफल हो जायें, पर इस वक्त तो लगता है कि पाठक वर्ग हमें धकेलकर बाहर निकालने पर तुला हुआ है, क्योंकि प्रेमचंद उसे अभी भी बड़ा अजीज है, जबकि हमारे लेखन पर नाक-भौं सिकोड़ता रहता है. हम इस पर तसकीन कर लेते हैं कि न हमें प्रेमचंद चाहिए और न ऐसा पाठक वर्ग. हम दोनों का बहिष्कार करते हैं.

यह सब अपनी जगह. जमाना बदलने पर लिखने के ढंग भी बदल जाते हैं. प्रेमचंद के प्रशंसक आज चाहते हुए भी उनकी तरह की रचनाएं नहीं रच पायेंगे. हां, प्रेमचंद की कलम का अनुकरण वे भले ही न करें, पर प्रेमचंद की दृष्टि का अनुकरण वे रोम-रोम से करना चाहेंगे. प्रेमचंद की दृष्टि, नैतिक मूल्यों से उनका लगाव, उनकी मानवीय भावना और संवेदना, ये सब आज भी उनके लिए उतने ही प्रेरणाप्रद हैं, जितने पहले कभी थे. □

मेरा मकान

"गर्मी की कैफियत न पूछिए. कहलाने को साहिबे-मकान हूं और खुदा के फजल से मकान भी सारे गांव का माबूद है, मगर रहने काबिल एक कमरा भी नहीं. कोठे पर आग बरसती है. बैठा और पसीना चोटी से एड़ी को चला. नीचे के कमरे सब गंदे. परीशान. किसी में बैल बंधता है, किसी में उपले जमा हैं. कहीं अनाज का ढेर है. किसी में जांत, चक्की, ओखली, मूसल वगैरह जुलूसफर्मा हैं. कोई बैठे कहां, सोये कहां. मजबूरन अनाज के घर में एक चारपाई की जगह निकाल ली है. उसी पर दिन-रात पड़ा रहता हूं. अकेले घूमने कहां जाऊं. बच्चे तीन-चार दिन के लिए आये हैं. हमारी मखदूमा को पहुंचाने के लिए बस्ती गये, वहां से अपने वालिद के पास चले जायेंगे. इस गर्मी में कैसा पढ़ना, कैसा लिखना. सुबह के वक्त घंटा-आधा घंटा वर्क-गिरदानी कर लेता हूं. बाकी रात-दिन मैं हूं और चारपाई. सुलक्कड़ बड़ा हूं; मगर नींद भी कुछ मेरे घर की लौंडी नहीं. उस पर तरद्दुद अलग. कहां हंसी-मजाक में दिन कटता था, कहां चुप की मिठाई या गूंगे का गुड़ खाकर बैठना पड़ता है. अजब जीक में जान मुबतिला है. भाई, जल्दी से छुट्टी कटे और फिर यारों के जलसे और चहचहे-कहकहे हों. आये बीस दिन से ज्यादा गुजरे, मगर कसम ले लो जो जबान से प्यारा लफ्ज बंबूक एक बार भी निकला हो." □

(मुंशी दयानरायन के नाम खत)

• प्रेमचंद

कफन : कैसा है हमारा रहन-सहन ?

● अमरकांत

मील का पत्थर

'कफन' कहानी पर कुछ लिखने से पहले कई बातें याद आ रही हैं. जिन दिनों मैं इलाहाबाद के एक दैनिक पत्र में काम करता था. एक शाम को समाचार-संपादक ने हम लोगों के कक्ष में आकर 'कफन' कहानी का प्लाट सुनाना शुरू किया. कहानी सुनाते समय उनकी हंसी का अंत नहीं था. मुझे अचंभा इस बात पर हुआ कि उन्होंने जो कुछ कहा, उससे लगा कि 'कफन' हास्य-रस की एक बड़ी मजेदार कहानी है.

बाद में 'कफन' के बारे में यह भी सुनने को मिला कि साहित्य का उद्देश्य उदात्त, महान, शुभ एवं कल्याणकारी होता है. एक महान साहित्यकार अपनी रचनाओं में मानवता के गीत गाता है. वह अपने साहित्य में मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित करता है. प्रेमचंद द्वितीय कोटि के कथाकार हैं, उनकी कहानियां संकीर्णता की कहानियां हैं. जिस परिवेश को उन्होंने चुना है, वह अच्छे साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं है.

प्रेमचंद शताब्दी वर्ष में प्रेमचंद पर कुछ व्यक्तिगत ढंग के भी आरोप लगाये गये हैं. उर्दू में तो एक अच्छी-खासी बहस चली है. प्रेमचंद फिरकापरस्त थे. उनके जिगरी दोस्तों में कोई मुसलमान क्यों नहीं था? वह उर्दू से हिंदी में क्यों आये? और न मालूम क्या-क्या? किसी लेखक के बारे में इस तरह की बहसें और आरोप दिलचस्प होते हैं, जो उस लेखक की जीवंतता के परिचायक हैं. निवेदन केवल इतना ही है कि किसी रचनाकार पर निर्णय उसकी रचनाओं के आधार पर ही दिया जाना चाहिए.

प्रेमचंद की कहानी 'कफन' सन् 1936 में छपी. यह उस समय लिखी गयी, जब कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता और आर्थिक आजादी का उद्देश्य स्वीकार कर लिया था. इस कहानी में प्रेमचंद आर्थिक आजादी का पूरा खाका खींचने में सफल हुए हैं. आजादी के प्रति भावुकतापूर्ण व रूमानी लगाव से हमें वास्तविक आजादी नहीं मिल सकती. हमें जमीन पर उतरना होगा और वास्तविकता को सही-सही समझना होगा, तभी हम आजादी का सही-सही अर्थ भी समझ सकेंगे.

प्रेमचंद ने इस कहानी में हासिल करने के लिए सही मुहावरों की रचना की है, जो एक महान उपलब्धि है. उन्होंने मानवीय करुणा, मानवीय गरिमा, मानवीय स्वतंत्रता संबंधी धारणाओं, मान्यताओं एवं दृष्टिकोण की नयी व्याख्या प्रस्तुत की है. प्रेमचंद की इस कहानी से हमें संवेदना के धरातल पर अपने देश व समाज, उसके ढांचे व इतिहास को समझने में पूरी-पूरी मदद मिलती है. यह कहानी इतिहासबोध एवं भावबोध में परिवर्तन के लिए संघर्ष की चेतना से भी हमें संपन्न करती है. प्रेमचंद ने 'कफन' के द्वारा हमारे साहित्य को चेतना के उस स्तर पर पहुंचा दिया है, जहां से पीछे देखना तो संभव है ही नहीं, उलटे साहित्य संबंधी संपूर्ण धारणाओं, मान्यताओं एवं दृष्टिकोण में बदलाव आ गया है.

'कफन' में जिस समाज का चित्र पेश किया गया है, उसके संबंध में शुरू में ही दो बातें कही जा सकती हैं. एक तो सदियों से हमारे समाज का ढांचा करीब-करीब ऐसा ही रहा है, दूसरी बात यह है कि इस समाज के आधारभूत ढांचे में अब भी कोई बदलाव नहीं आया है.

कैसा है यह समाज?

मोटे तौर पर इस समाज में तीन वर्ग दिखायी देते हैं. एक तो रात-दिन जी-तोड़ मेहनत करनेवाले किसानों का वर्ग है. दूसरे वर्ग के लोग किसानों की दुर्बलताओं का लाभ उठाकर अधिक संपन्न हो

समाज की आत्मा मर नहीं गयी है, उसमें पर्याप्त धार्मिक भावना है. वह लाश को नंगी हालत में कभी नहीं ले जाने देगी!

गये हैं. तीसरा वर्ग घीसू या माधव जैसे लोगों का है, जो अछूत हैं.

स्पष्ट है कि यह क्रूर सामंती समाज है, जिसमें परिश्रम का कोई मूल्य नहीं, बल्कि परिश्रम दूसरों के फायदे के लिए किया जाता है. जी-तोड़ मेहनत करनेवाले ये किसान निरीह और सटक हैं, इसलिए दूसरे आसानी से उनकी इस दुर्बलता से लाभ उठा लेते हैं. निरीहता व सरलता शोषण को बनाये रखने के लिए जरूरी हैं. ये किसान संख्या में तो काफी हैं, पर वे 'विचार-शून्य समूह' के अलावा कुछ भी नहीं. विचार शून्य क्यों ? बात यह है कि इस समाज में शोषण का तंत्र इतना कठोर व निर्मम है कि विचारशून्यता उसका लाजिमी परिणाम है. विचारों से ही मनुष्य, मनुष्य बनता है. बिना विचारों का मनुष्य पशु के समान है. यदि इस समाज में असंख्य मेहनतकश लोगों को मनुष्य की तरह जिंदा रहने दिया जाता तो उनमें विचार होता. और जब विचार होता तो उन्हें यह भी एहसास होता कि उनका शोषण हो रहा है. तब वे एकजुट होकर स्वाभिमानी मनुष्य की तरह जीवन व्यतीत करने की कोशिश करते.

मेहनतकश किसानों के अलावा अछूतों का भी एक वर्ग है, जिसके प्रतिनिधि घीसू व माधव हैं. जी-तोड़ मेहनत करने पर भी किसानों की दशा घीसू व माधव से अच्छी नहीं और घीसू और माधव काहिल व कामचोर हैं. उनके घर में मिट्टी के दो-चार बर्तन हैं. वे फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढके हुए हैं. कर्ज से लदे हुए लेकिन चिंताओं से मुक्त. गालियां और मार खाते लेकिन कोई गम नहीं. दीन इतने कि वसूली की आशा न रहते हुए भी लोग उन्हें कुछ न कुछ दे ही देते. यदि वे साधु होते तो उन्हें संतोष व धैर्य के लिए संयम व नियम की बिलकुल जरूरत न होती. हां, हमारे समाज ने अकर्मण्यों की एक भारी फौज खड़ी कर रखी है. हर सामाजिक प्राणी को संतोष व धैर्य के लिए नियम-संयम की जरूरत होती है. घीसू-माधव जैसे लोगों के पास संतोष व धैर्य के लिए कुछ भी नहीं. वे समाज-बहिष्कृत हैं, समाज के नियम व संयम के कानून उनके लिए नहीं हैं. उनको मार-मारकर वहां खदेड़ दिया गया है, जहां परावलंबी बनने के लिए वे मजबूर हैं और मार खाना, गाली सुनना, कर्ज से लदे रहकर भी चिंतामुक्त रहना उनकी प्रकृति बन गयी है. सदियों से घीसू-माधव के कुनबे को इस दुर्गति को अंगीकार करने का अभ्यास है और निरंतर अभ्यास ही दूसरी प्रकृति बन जाता है. हमारे समाज को भी दया करने का अभ्यास है. उच्चता के एहसास के लिए समाज में ऐसे लोगों का अस्तित्व जरूरी है, जिन पर दया-माया की जा सके. हम दया कर सकें और दूसरे उस दया पर खुशी-खुशी निर्भर रह सकें, यही है हमारी महान नैतिकता, महान करुणा, महान दया, महान मानवीय प्रतिष्ठा जिस पर हम शहादत के अंदाज में गर्व किया करते हैं.

▣

इस समाज में लोगों का विश्वास है कि दया-माया ऐसी चीज है, जिसकी वजह से भगवान पापों को क्षमा कर देते हैं और परोपकार करनेवालों को स्वर्ग में जगह दे देते हैं. गौर करें कि माधव की स्त्री प्रसव-वेदना से छटपटा रही है. माधव को चिंता होती है कि अगर बच्चा हो गया तो क्या होगा? घर में तो कुछ भी नहीं. घीसू उसे आश्वासन देता है—

"सब कुछ हो जायेगा. भगवान दें तो. जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे. मेरे नौ लड़के हुए, घर में कुछ न था, मगर भगवान ने किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया."

प्रेमचंद ने सदियों के इतिहास का एक घोर विषम एवं मानवीय रूप हमारे सामने लाकर रख दिया है. शोषण की ऐसी वीभत्स मिसाल शायद ही कहीं हो. यह समाज अपनी उच्चता के अहंकार में परम संतुष्ट है कि असंख्य लोग उसकी प्रजा और गुलाम हैं, जो उसकी दया-माया पर निर्भर हैं. समाज इन गुलामों को न ठीक से जीने देता है, न ठीक से मरने देता है. मरने इसलिए नहीं देता कि उनका जिंदा रहना उनकी उच्चता बनाये रखने के लिए जरूरी है. और ठीक से जिंदा रहने देने का मतलब है मनुष्यता व तज्जन्य स्वाभिमान के जीवन की ओर लौटना. शोषक समाज के लिए मानवीय चेतना व मानवीय स्वाभिमान एक खतरनाक चीज है. इस चेतना को पैदा न होने दो. लोगों की आत्मा को, उनके स्वाभिमान को, उनकी मनुष्यता को इस तरह कुचल डालो कि उनको एहसास ही न हो पाये कि वे मनुष्य हैं, बल्कि उनकी हालत जानवरों की तरह हो जाये.

इस क्रूर सामंती समाज का शासक है—साम्राज्यवाद की छाया में फलने-फूलने वाला जमींदार वर्ग. उसका साथ देते हैं बनिया-महाजन, धर्माचार्य तथा अन्य उच्चवर्गीय लोग. जब माधव की स्त्री मर गयी तो लोगों की दया के प्रति आश्वस्त रहनेवाला घीसू मदद के लिए जमींदार के पास पहुंचता है. जमींदार उसकी ओर दो रुपये फेंक देता है. जब जमींदार ने रुपये दे दिये तो गांव के बनिया-महाजन कैसे पीछे रहते? क्योंकि जमींदार जिसको चाहे उजाड़ सकता है. घीसू इसे जानता है, इसीलिए वह जमींदार की दुहाई देकर लाभ उठाता है.

लेकिन कफन का पैसा मिलने पर वे दोनों बहानेबाजी का तर्क देते हुए शराबखाने की ओर चल देते हैं. ऐसा सुनहरा अवसर जो उन्हें मुश्किल से

मिला है. मरनेवाली तो मर गयी. उसके कफन का इंतजाम पुण्य कमानेवाला समाज हर हालत में करेगा ही. पर उनके लिए ऐसी मस्ती का मौका कभी जिंदगी में तो आयेगा नहीं. कर्त्तव्यबोध से उन्हें क्या मतलब? आदर्श, नैतिकता, प्यार, त्याग, कर्त्तव्यबोध आदि ऊंचे गुण उनके लिए बने भी नहीं हैं. मनुष्य तो वे हैं नहीं, सामाजिक प्राणी तो वे हैं नहीं, फिर ऊंचे गुणों, उसूलों व नियमों से उन्हें क्या सरोकार? वे सब तो उस उच्च समाज के लिए हैं, जिसके पास इतनी सुख-सुविधाएं हैं कि उनमें से कुछ त्याग करके वे महानता को अनुभव कर सकते हैं. उनके पास क्या है? वे जानते हैं कि वे समाज पर निर्भर हैं. और समाज भी उनकी विपन्नता व भिखमंगई से परमसंतुष्ट है. फिर क्या वे उस समाज से आशा नहीं कर सकते कि वह हर हालात में उनके या उनके बीवी-बच्चों के लिए कफन का इंतजाम करेगा? नहीं, नहीं, कफन जरूर मिलेगा, फिर मिलेगा, बार-बार मिलेगा. समाज ने जिंदगी भर नंगा रखा, भूखा रखा, जब दवा-दारू की जरूरत थी तो उसकी व्यवस्था न की, यहां तक कि झाड़-फूंक के लिए भी पैसा नसीब न हुआ, जिससे कम से कम संतोष तो हो जाता —लेकिन उस समाज की आत्मा मर नहीं गयी है, उसमें पर्याप्त धार्मिक भावना है. धार्मिक संस्कारों के प्रति हमारा समाज सजग है. वह लाश को नंगी हालत में कभी भी नहीं ले जाने देगा. उसके लिए कफन का इंतजाम अवश्य करेगा.

दरअसल, 'कफन' एक स्तर पर क्रूर सामंती शोषण का प्रतीक है तो दूसरे स्तर पर वह उसके अंतर्विरोध को भी प्रकट करता है. हमारे समाज में जो वैषम्य है, उसका ऐसा संवेदनात्मक चित्रण इसके पहले और बाद में भी किसी लेखक ने प्रस्तुत नहीं किया. अंतर्विरोध को समझे बगैर सच्चाई को समझा नहीं जा सकता. प्रेमचंद ने सामंती समाज के अंतर्विरोधों का इस तरह मिश्रण किया है कि हमारी सहानुभूति मेहनतकश किसानों तथा अछूत वर्ग के लोगों के साथ हो जाती है. इसीलिए यह शोषण के विरुद्ध संघर्ष की चेतना की कहानी भी बन जाती है. संघर्ष की चेतना कैसे? इसका एक उदाहरण प्रस्तुत करना उचित होगा. समाज ने दया करके उन्हें कफन के जो पैसे दिये, उनसे वे कफन नहीं खरीदते बल्कि शराब पी जाते हैं. समाज के इस महान पुण्य की अवहेलना करके वे मस्ती की दुनिया में डूब जाते हैं. यह मस्ती उन्हें दार्शनिक बना देती है. इस दार्शनिकता के मूड में वे स्वर्ग-नर्क का विवेचन करते हैं. नशे में झूठा से झूठा आदमी सच बोलने लगता है. वास्तविक जीवन में घीसू व माधव लात-जूता खाते हैं. लेकिन नशे में सच्चाई उनके मुंह से निकलने लगती है. आखिर स्वर्ग का कौन हकदार है? माधव की औरत ने न किसी को सताया, न दबाया. मरकर भी उसने घीसू-माधव को एक ऐसा मौका दिया कि उन्होंने डटकर पूड़ियां खायीं, शराब पी तथा वे सब सुख-दुख भूल गये. स्वर्ग की हकदार वही हो सकती है. स्वर्ग क्या गरीबों को दोनों हाथों से लूटनेवाले जायेंगे? इस लूट के बल पर वे खूब मोटे हो गये हैं और अपने आप को भूलने के लिए धार्मिक कृत्य करते हैं.

▣

यही है विरोध चेतना की चिंगारी जो शोषण के पहाड़ के नीचे दबी गरीबों की आत्मा में कहीं धीमे-धीमे जल रही है, जो घीसू के मुंह से सच्चाई के रूप में निकलकर चमक उठती है. इस चिंगारी के ऊपर से शोषण व अन्याय की राख के पहाड़ को हटाना पड़ेगा, फिर इस चेतना की चिंगारी को सुलझाना पड़ेगा. और जब मेहनतकश किसानों तथा घीसू-माधव जैसे लोगों के दिलों में गरीबी, शोषण व अन्याय से मुक्ति की आग निरंतर जलने लगेगी, तभी यह अन्यायी व्यवस्था समाप्त हो सकेगी और एक ऐसे समय की व्यवस्था कायम की जा सकेगी, जिसमें शोषण नहीं होगा. इस तरह 'कफन' देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक आजादी तथा मानवीय मूल्यों, मानवीय प्रतिष्ठा, मानवीय गरिमा तथा धर्म आदि को देखने

यही है विरोध चेतना की चिंगारी जो शोषण के पहाड़ के नीचे दबी गरीबों की आत्मा में कहीं धीमे-धीमे जल रही है!

की एक सर्वथा नयी दृष्टि और नयी परिभाषा देती है. यही नयी दृष्टि और नयी परिभाषा व अन्याय का विरोध कर न्याय, समता व मानवीय भाईचारे की नयी व्यवस्था कायम कर सकेगी. असंख्य लोगों की आर्थिक आजादी के बिना न्याय व समता की व्यवस्था कायम नहीं की जा सकती, इसलिए यह कहानी हमारी आर्थिक आजादी के ढांचे व व्यापार क्षेत्र को भी परिभाषित करती है. इस आजादी की 'नींव' है—मेहनतकश और अछूत लोगों की एकता व मुक्ति. इनके उत्थान और इन्हीं के चतुर्मुखी विकास के आधार पर निर्मित हमारी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक आजादी सार्थक हो सकती है. —इनको छोड़कर आजादी की कोई भी कल्पना संकीर्ण, बेमानी और अंततः शोषण के वर्तमान तंत्र को बनाये रखने के समान होगी.

'कफन' साम्राज्यवाद, सामंतवाद व हर प्रकार के शोषण के चरित्र को खोलने व उसका प्रतिकार तथा विरोध करनेवाली ऐसी सशक्त कृति है, जो आगे भी हमारी यात्रा के मार्ग को उजागर करती है और उस मार्ग पर चलने के लिए देश को नयी चेतना व नये मुहावरों से लैस करती है. व्यापक मानव प्रेम व मानवीय भाईचारे के प्रति आस्था के बिना ऐसी कहानी लिखी ही नहीं जा सकती. □

प्रेमचंद की रचनाएं : एक

झोंपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं और अंदर बेटे की जवान बीवी बुधिया प्रसव-वेदना से पछाड़ खा रही थी. रह-रहकर उसके मुंह से ऐसी दिल हिला देनेवाली आवाज निकलती थी कि दोनों कलेजा थाम लेते थे. जाड़ों की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई. सारा गांव अंधकार में लय हो गया था.

घीसू ने कहा—"मालूम होता है, बचेगी नहीं. सारा दिन दौड़ते हो गया, जा, देख तो आ."

माधव चिढ़कर बोला—"मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देखकर क्या करूं?"

"तू बड़ा बेदर्द है बे! साल भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफाई!"

"तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पांव पटकना नहीं देखा जाता."

चमारों का कुनबा था और सारे गांव में बदनाम. घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम. माधव इतना कामचोर था कि आध घंटे काम करता तो घंटे-भर चिलम पीता. इसलिए उन्हें कहीं मजदूरी नहीं मिलती थी. घर में मुट्ठी भर अनाज भी मौजूद हो, तो उनके लिए काम करने की कसम थी. जब दो-चार फाके हो जाते, तो घीसू पेड़ पर चढ़कर लकड़ियां तोड़ लाता और माधव बाजार में बेच आता और जब तक वे पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते. जब फाके की नौबत आ जाती, तो फिर लकड़ियां तोड़ते या मजदूरी तलाश करते. गांव में काम की कमी न थी. किसानों का गांव था. मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे. मगर इन दोनों को लोग उसी वक्त बुलाते, जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी संतोष कर लेने के सिवा और कोई चारा न होता. अगर साधु होते, तो उन्हें संतोष और धैर्य के लिए संयम और नियम की बिलकुल जरूरत न होती. यह तो इनकी प्रकृति थी. विचित्र जीवन था इनका! घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई संपत्ति नहीं थी. फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढके हुए जिये जाते थे. संसार की चिंताओं से मुक्त. कर्ज से लदे हुए. गालियां भी खाते, मार भी खाते, मगर कोई भी गम नहीं. दीन इतने कि वसूली की बिल्कुल आशा न रहने पर भी लोग इन्हें कुछ-न-कुछ कर्ज दे देते थे. मटर-आलू की फसल में दूसरे के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भून-भानकर खा लेते, या दस-पांच ऊख उखाड़ लाते और रात को चूसते. घीसू ने इसी आकाशवृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पदचिन्हों पर चल रहा था, बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था. इस वक्त भी दोनों अलाव के सामने बैठकर आलू भून रहे थे, जो किसी के खेतों से खोद लाये थे. घीसू की स्त्री का तो, बहुत दिन हुए, देहांत हो गया था. माधव का ब्याह पिछले साल हुआ

था. जब से यह औरत आयी थी, उसने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी. पिसाई करके या घास छीलकर वह पेटभर आटे का इंतजाम कर लेती थी और इन दोनों बेगैरतों का दोजख भरती रहती थी. जब से वह आयी, ये दोनों और भी आलसी और आरामतलब हो गये थे, बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे. कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्व्याज भाव से दुगुनी मजदूरी मांगते. वही औरत आज प्रसव-वेदना से मर रही थी और ये दोनों शायद इसी इंतजार में थे कि वह मर जाये, तो आराम से सोयें.

घीसू ने आलू निकालकर छीलते हुए कहा—"जाकर देख तो, क्या दशा है उसकी! चुड़ैल का फिसाद होगा, और क्या? यहां तो ओझा भी एक रुपया मांगता है!"

माधव को भय था कि वह कोठरी में गया, तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ कर देगा. बोला—"मुझे वहां जाते डर लगता है."

"डर किस बात का है, मैं तो यहां हूं ही."

"तो तुम्हीं जाकर देखो न!"

"मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं था. और फिर मुझसे लजायेगी कि नहीं? जिसका कभी मुंह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूं. उसे तन की सुध भी तो न होगी? मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पांव भी न पटक सकेगी."

"मैं सोचता हूं, कोई-बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं घर में."

"सब कुछ हो जायेगा भगवान दें, तो. जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे. मेरे नौ लड़के हुए, घर में कुछ न था, मगर भगवान ने किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया."

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करनेवालों की हालत उनकी हालत से बहुत-कुछ अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुबलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा संपन्न थे, वहां इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी. हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था, जो किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मंडली में जा मिला था. हां, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता. इसलिए जहां उसकी मंडली के और लोग गांव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गांव उंगली उठाता था. फिर भी उसे यह तस्कीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम से कम उसे किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती. उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फायदा तो नहीं उठाते.

दोनों आलू निकाल-निकालकर जलते-जलते खाने लगे. कल से कुछ नहीं खाया था. इतना सब्र न था कि उन्हें ठंडा हो जाने दें. कई बार दोनों की जबानें जल गयीं. छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज्यादा गरम न मालूम होता, लेकिन दांतों के तले पड़ते ही अंदर का हिस्सा जबान, हल्क और तालू को जला देता था और उस अंगारे को मुंह में रखने से ज्यादा खैरियत इसी में थी कि वह अंदर पहुंच जाये. वहां उसे ठंडा करने के लिए काफी सामान थे. इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते. हालांकि इस कोशिश में उनकी आंखों में आंसू निकल आते.

घीसू को उस वक्त ठाकुर की बारात याद आयी, जिसमें बीस साल पहले वह गया था. उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन में एक याद रखने लायक बात थी और आज भी उसकी याद ताजा थी. बोला— "वह भोज नहीं भूलता. तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट नहीं मिला. लड़कीवालों ने सबको भरपेट पूरियां खिलायी थीं, सबको. छोटे-बड़े सबने पूरियां खायीं और असली घी की! चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चटनी, मिठाई. अब क्या बताऊं कि उस भोज में क्या स्वाद मिला! कोई रोक-टोक नहीं थी. जो चीज चाहो मांगो और जितना चाहो खाओ. ऐसा दिल-दरयाव था ठाकुर!"

माधव ने इन पदार्थों का मन ही मन मजा लेते हुए कहा—"अब हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलाता."

"अब कोई क्या खिलायेगा! वह जमाना दूसरा था. अब तो सबको किफायत सूझती है. शादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो. पूछो, गरीबों का माल बटोर-बटोरकर कहां रखोगे. बटोरने में कमी नहीं है. हां, खर्च में किफ़ायत सूझती है."

"तुमने बीस-एक पूरियां खायी होंगी?"

"बीस से ज्यादा खायी थीं?"

"मैं पचास खा जाता."

"पचास से कम मैंने भी न खायी होंगी. अच्छा पट्ठा था. तू तो मेरा आधा भी नहीं है."

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी धोतियां ओढ़कर, पांव पेट में देकर सो रहे. मानो दो बड़े-बड़े अजगर, गेंडुलियां मारे पड़े हों.

और बुधिया अभी तक कराह रही थी.

सवेरे माधव ने कोठरी में जाकर देखा, तो उसकी स्त्री ठंडी हो गयी थी. उसके मुंह पर मक्खियां भिनक रही थीं. पथराई हुई आंखें ऊपर टंगी हुई थीं. सारी देह धूल से लथपथ हो रही थी. उसके पेट में बच्चा मर गया था.

माधव भागा हुआ घीसू के पास आया. फिर दोनों जोर-जोर से हाय-हाय करने और छाती पीटने लगे. पड़ोसवालों ने यह रोना-धोना सुना तो दौड़े हुए आये और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभागों को समझाने लगे.

मगर ज्यादा रोने-पीटने का अवसर न था. कफन और लकड़ी की फिक्र करनी थी. पर घर में तो पैसा इस तरह गायब था, जैसे चील के घोंसले में मांस.

बाप-बेटे रोते हुए गांव के जमींदार के पास गये. वह इन दोनों की सूरत से नफरत करते थे. कई बार इन्हें अपने हाथों से पीट चुके थे. चोरी करने के लिए, वादे करके काम पर न आने के लिए. पूछा—"क्या है बे घिसुआ, रोता क्यों है? अब तो तू कहीं दिखायी नहीं देता. मालूम होता है, गांव में रहना नहीं चाहता."

घीसू ने जमीन पर सिर रखकर आंखों में आंसू भरे हुए कहा—"सरकार! बड़ी विपत्ति में हूं. माधव की घरवाली रात

'घर में तो पसा इस तरह गायब था जैसे चील के घोंसले में मांस!'—सासाराम में 'प्रगति' संस्था द्वारा आयोजित प्रेमचंद जन्मशताब्दी समारोह के अंतर्गत 'कफन' के नाट्य रूपांतर (रूपांतरकार : शंकर) का एक दृश्य. निर्देशक : नर्मदेश्वर.

'कसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते-जी तन ढांकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए.'—भागलपुर में 'दिशा' संस्था द्वारा 'प्रेमचंद और चौराहा' नाटक के अंतर्गत खेले गये 'कफन' के नाट्य रूपांतर का एक दृश्य.

को गुजर गयी. रात-भर तड़पती रही, सरकार. हम दोनों उसके सिरहाने बैठे रहे. दवादारू जो कुछ हो सका, सब-कुछ किया, मुदा वह हमें दगा दे गयी. अब कोई एक रोटी देनेवाला भी न रहा, मालिक तबाह हो गये. घर उजड़ गया. आपका गुलाम हूं. अब आपके सिवा कौन उसकी मिट्टी पार लगायेगा. हमारे पास में तो जो कुछ था, वह सब दवा-दारू में उठ गया. सरकार ही की दया होगी, तो उसकी मिट्टी उठेगी."

जमींदार साहब दयालु थे. मगर घीसू पर दया करना काले कंबल पर रंग चढ़ाना था. जी में तो आया, कह दें, चल दूर हो यहां से! यों तो बुलाने से भी नहीं आता, आज जब गरज पड़ी, तो आकर खुशामद कर रहा है. हरामखोर कहीं का, बदमाश! लेकिन यह क्रोध या दंड का अवसर नहीं था. जी में कुढ़ते हुए दो रुपये निकालकर फेंक दिये. मगर सांत्वना का एक शब्द भी मुंह से न निकला, उसकी तरफ ताका भी नहीं, जैसे सिर का बोझ उतारा हो.

जब जमींदार साहब ने दो रुपये दिये, तो गांव के बनिये-महाजनों को इंकार कैसे होता. घीसू जमींदार के नाम का ढिंढोरा भी पीटना खूब जानता था. किसी ने दो आने दिये, किसी ने चार आने. एक घंटे में घीसू के पास पांच रुपये की अच्छी रकम जमा हो गयी. कहीं से नाज मिल गया, कहीं से लकड़ी. और दोपहर को घीसू और माधव बाजार से कफन लाने चले. इधर लोग बांस काटने लगे.

गांव की नरम-दिल स्त्रियां आ-आकर लाश को देखती थीं और उसकी बेकसी पर दो बूंद आंसू गिराकर चली जाती थीं.

बाजार में पहुंचकर घीसू बोला—"लकड़ी तो उसे जलाने-भर को मिल गयी है, क्यों माधव."

"हां, लकड़ी तो बहुत है, अब कफन चाहिए."

"तो चलो, कोई हल्का-सा कफन ले लें."

"हां और क्या. लाश उठते-उठते रात हो जायेगी. रात को कफन कौन देखता है?"

"कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते-जी तन ढांपने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए."

"कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है."

"और क्या रखा रहता है? यही पांच रुपये पहले मिलते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते."

दोनों एक-दूसरे के मन की बात ताड़ रहे थे. बाजार में इधर-उधर घूमते रहे. कभी इस बजाज की दूकान पर गये, कभी उसकी दूकान पर तरह-तरह के कपड़े, रेशमी और सूती देखे, मगर कुछ जंचा नहीं. यहां तक कि शाम हो गयी. तब दोनों न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने जा पहुंचे और जैसे किसी पूर्व-निश्चित योजना से अंदर चले गये. वहां जरा देर तक दोनों असमंजस में खड़े रहे. फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा—"साहूजी, एक बोतल हमें भी देना."

इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियां आयीं और दोनों बरामदे में बैठकर शांतिपूर्वक पीने लगे.

कई कुज्जियां ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनों सरूर में आ गये.

घीसू बोला—"कफन लगाने से क्या मिलता ? आखिर जल ही जाता, कुछ बहू के साथ तो न जाता."

माधव आसमान की तरफ देखकर बोला, मानो देवताओं को अपनी निष्पापता का साक्षी बना रहा हो—"दुनिया का दस्तूर है, नहीं लोग बामनों को हजारों रुपये क्यों देते हैं. कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं."

"बड़े आदमियों के पास धन है, चाहे फूंकें. हमारे पास फूंकने को क्या है."

"लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे ? लोग पूछेंगे नहीं, कफन कहां है?"

घीसू हंसा—"अबे कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गये. लोगों को विश्वास तो न आयेगा, लेकिन फिर वही रुपये देंगे.

माधव भी हंसा, इस अनपेक्षित सौभाग्य पर बोला—"बड़ी अच्छी थी बेचारी. मरी भी तो खूब खिला-पिलाकर."

आधी बोतल से ज्यादा उड़ गयी. घीसू ने दो सेर पूरियां मंगायीं. चटनी, अचार, कलेजियां. शराबखाने के सामने ही दूकान थी. माधव लपककर दो पत्तलों में सारा सामान ले आया. पूरा डेढ़ रुपया और खर्च हो गया. सिर्फ थोड़े से पैसे बच रहे.

दोनों इस वक्त शान से बैठे हुए पूरियां खा रहे थे, जैसे जंगल में कोई शेर अपना शिकार उड़ा रहा हो. न जवाबदेही का खौफ था, न बदनामी की फिक्र. इन भावनाओं को उन्होंने बहुत पहले ही जीत लिया था.

घीसू दार्शनिक भाव से बोला—"हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है तो क्या उसे सुख न होगा?"

माधव ने श्रद्धा से सिर झुकाकर तसदीक की—"जरूर से जरूर होगा. भगवान, तुम अंतर्यामी हो. उसे बैकुंठ ले जाना. हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे हैं. आज जो भोजन मिला, वह कभी उम्र भर न मिला था."

एक क्षण बाद माधव के मन में एक शंका जागी. बोला—"क्यों दादा, हम लोग भी तो एक-न-एक दिन वहां जायेंगे ही."

घीसू ने इस भोले-भाले सवाल का कुछ उत्तर न दिया. वह परलोक की बातें सोचकर आनंद में बाधा न डालना चाहता था.

"जो वहां वह हम लोगों से पूछे कि तुमने हमें कफन क्यों नहीं दिया तो क्या कहोगे?"

"कहेंगे तुम्हारा सिर."

"पूछेगी तो जरूर."

"तू कैसे जानता है कि उसे कफन न मिलेगा? तू मुझे ऐसा गधा समझता है? साठ साल क्या दुनिया में घास खोदता रहा हूं. उसको कफन मिलेगा और इससे बहुत अच्छा मिलेगा."

माधव को विश्वास न आया. बोला—"कौन देगा ? रुपये तो तुमने चट कर दिये. वह तो मुझसे पूछेगी. उसकी मांग में सेंदुर तो मैंने डाला था."

घीसू गरम होकर बोला—"मैं कहता हूं, उसे कफन मिलेगा. तू मानता क्यों नहीं?"

"कौन देगा, बताते क्यों नहीं ?"

"वही लोग देंगे, जिन्होंने अबकी दिया है. हां, अबकी रुपये हमारे हाथ न आयेंगे."

ज्यों-ज्यों अंधेरा बढ़ता था और सितारों की चमक तेज होती थी, मधुशाला की रौनक भी बढ़ती जाती थी. कोई गाता था, कोई डींग मारता था, कोई अपने संगी के गले लिपट जाता था. कोई अपने दोस्त के मुंह से कुल्हड़ लगाये देता था.

वहां के वातावरण में सरूर था, हवा में नशा. कितने तो यहां आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते. शराब से ज्यादा वहां की हवा उन पर नशा करती थी. जीवन की बाधाएं उन्हें यहां खींच लाती थीं, और कुछ देर के लिए यह भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं! या न जीते हैं, न मरते हैं!

और ये दोनों बाप-बेटा अब भी मजे ले-लेकर चुसकियां ले रहे थे. सबकी निगाहें इनकी ओर जमी हुई थीं. दोनों कितने भाग्य के बली हैं, पूरी बोतल बीच में है.

भर पेट खाकर माधव ने बची हुई पूरियों का पत्तल उठाकर एक भिखारी को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आंखों से देख रहा था. और 'देने' के गौरव, आनंद और उल्लास का उसने अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया.

घीसू ने कहा—ले, जा खूब खा और आशीर्वाद दे. जिसकी है, वह तो मर गयी. पर तेरा आशीर्वाद उसे जरूर पहुंचेगा. रोयें-रोयें से आशीर्वाद दे, बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं."

माधव ने फिर आसमान की तरफ देखकर कहा—"वह बैकुंठ में जायेगी दादा, वह बैकुंठ की रानी बनेगी."

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला—"हां बेटा, बैकुंठ में जायेगी. किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं. मरते-मरते हमारी जिंदगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गयी. वह न बैकुंठ में जायेगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जायेंगे, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं."

श्रद्धालुता का यह रंग तुरंत ही बदल गया. अस्थिरता नशे की खासियत है. दुःख और निराशा का दौरा हुआ.

माधव बोला—"मगर दादा, बेचारी ने जिंदगी में बड़ा दुःख भोगा. कितना दुःख झेलकर मरी."

वह आंखों पर हाथ रखकर रोने लगा, चीखें मार-मारकर.

घीसू ने समझाया—"क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह मायाजाल से मुक्त हो गयी. जंजाल से छूट गयी. बड़ी भाग्यवान थी जो इतनी माया-मोह के बंधन तोड़ दिये." और दोनों खड़े होकर गाने लगे—"ठगिनी, क्यों नैना झमकावे! ठगिनी!"

पियक्कड़ों की आंखें इनकी ओर लगी हुई थीं और ये दोनों अपने दिल में मस्त गाते जाते थे. फिर दोनों नाचने लगे. उछले भी, कूदे भी. गिरे भी, मटके भी. भाव भी बनाये, अभिनय भी किये और आखिर नशे में बदमस्त होकर वहीं गिर पड़े. □

'रंगभूमि' का प्रकाशन

'रंगभूमि' की पांडुलिपि अभी तैयार नहीं हो पायी थी कि 'गंगा पुस्तक-माला' के संस्थापक पं. दुलारे लाल भार्गव ने उसे प्रकाशित करने का प्रस्ताव किया. भार्गवजी ने उपन्यास के प्रथम संस्करण में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की—

> "पहले से ही अधिक मांग होने के कारण इस बृहत् उपन्यास की 5,000 प्रतियां छपवायी गयी हैं, जो हिंदी जगत के लिए एक नयी घटना है. इसके पहले शायद ही किसी साहित्यिक पुस्तक का संस्करण इतना छपा हो !"—प्रकाशक

यह भी उल्लेखनीय है कि प्रकाशक ने सभी 5,000 प्रतियों की रायल्टी अठ्ठारह सौ रुपये उपन्यास के प्रकाशित हो जाने पर प्रेमचंद को दे दी.

प्रस्तुति : कमलकिशोर गोयनका

एक लेखक को उसके व्यवहार से ही नहीं, साहित्य से भी जाना जा सकता है. प्रेमचंद को पढ़कर देश-विदेश के विद्वानों की क्या राय बनी और दैनिक जीवन में उनका चरित्र कैसा था—इनके तुलनात्मक अध्ययन से तत्कालीन साहित्य और जीवन के अंतर्गत उनकी तस्वीर कैसी बनती है? इसी संदर्भ को रेखांकित करते हुए लिखा गया यह बहुआयामी लेख प्रेमचंद को नये सिरे से जानने और समझने का अवसर देता है.

चित्र में : (ऊपर) पं. जवाहरलाल नेहरू तथा श्रीमती कमला नेहरू के साथ जय शंकर प्रसाद, आचार्य रामचंद्र शुक्ल एवं प्रेमचंद तथा अन्य साहित्यकार, (बायें) प्रेमचंद एवं जयशंकर प्रसाद.

• डा. प्रभाकर माचवे

प्रेमचंद भूखों नहीं मरे, भूख के खिलाफ लड़े

तीन विदेशी साक्ष्य

मेरे सामने इस समय प्रेमचंद पर तीन विदेशी लेखकों की शोध-परक कृतियां हैं : दो निबंध, एक पुस्तक. उसी के अंश उद्धृत कर अपनी बात की पुष्टि कर रहा हूं. चेकोस्लोवाकिया के डा. ओदोलेन स्मेकल का चेक भाषा में निबंध है 'प्रिस्पेविक के स्तूदियु हिंदस्के हो वेसनिचके हो रोमानु (ग्रामजीवन संबंधी हिंदी उपन्यासों का अध्ययन). इसमें निबंधकार ने लिखा है—'प्रेमचंद ने कई उपन्यास लिखे, जिनमें से तीन—'प्रेमाश्रम' (1921), 'कर्मभूमि' (1932), गोदान (1936)—ग्रामजीवन की समस्याओं को अलग-अलग ढंग से पेश करते हैं और उनके हल भी सुझाते हैं...

प्रेमाश्रम में किसानों की गरीबी और पिछड़ापन, जमींदार के कारिंदों के अत्याचार दिखाते हुए प्रेमचंद की शैली वर्णनात्मक यथार्थवादी है. गांव के लोगों के प्रतिदिन के प्रश्न वे बड़ी बारीकी से वर्णित करते हैं. परंतु उनका हल वे एक आदर्शवादी की तरह देते हैं... 'कर्मभूमि' में गांव और शहर दोनों के विरोधी चित्र है. गांधीजी के आंदोलन से प्रभावित इसका नायक अमरकांत उच्च मध्यवर्ग का पात्र है. किसानों की क्रांतिकारिता को वह राजनैतिक संग्राम की ओर मोड़ता है.'

...'गोदान' में गांव की गरीबी का चित्रण है, मसलन गांव के किसान के पास कितनी कम जमीन है, वह कर्ज में कैसे डूबा है, वह अपढ़ और अंधश्रद्ध है, उसका शोषण जमींदार और पुरोहित दोनों करते हैं. यहां प्रेमचंद अधिक यथार्थवादी हो जाते हैं. इसमें प्रेमचंद होरी का चित्रण कर गांववालों में क्रांतिप्रवणता और सुसंगठन के अभाव को अधोरेखित करते हैं. परंतु गोबर के रूप में नयी पीढ़ी भूख के खिलाफ लड़ना चाहती है.'

दूसरा निबंध सीगफ्रिड ए. शुल्ज नामक जर्मन अध्येता का है. यह 'कैथोलिक युनिवर्सिटी ऑफ अमेरिका' (वाशिंगटन) से छपा है, जिसमें ''प्रेमचंद का 'गोदान' और चार्ल्स डिकेन्स की भारतीय प्रतिध्वनियां'' शीर्षक के अंतर्गत दोनों कथाकारों की कृतियों में समानता-असमानता के बिंदुओं का विस्तृत विवेचन है. तुलनात्मक आधार के लिए डिकेंस के 'हार्ड टाइम्स' को लिया गया है. शुल्ज लिखते हैं—

'परंतु प्रेमचंद का गुस्सा सबसे अधिक उन हृदयहीन अमीरों के प्रति है, जिनके सारे कार्य लेखक बड़ी ही निस्संग स्थितप्रज्ञता से वर्णित करता है. उदाहरण के लिए होरी का दान. प्रेमचंद की शैली डिकेन्स से बहुत भिन्न है. डिकेन्स अपने पाठकों पर मानो विश्वास नहीं करता, हर समय अपनी टिप्पणियां जोड़ता जाता है.'

वह कोठरी जिसमें प्रेमचंदजी का जन्म हुआ. चित्र में : हिंदी के कवि त्रिलोचन और चेक विद्वान श्री स्मेकल.

एक जगह शुल्ज लिखते हैं—'डिकेन्स की ही तरह प्रेमचंद गरीबों का मजाक नहीं उड़ाते. परंतु डिकेन्स से प्रेमचंद की भिन्नता इसमें है कि वे गरीबों को आनंद मनाते हुए देखते हैं. डिकेन्स कभी भी अमीरों के मन का चित्रण नहीं करता, पर तोल्स्तोय करते हैं. प्रेमचंद भी कभी-कभी अमीरों के मन में झांकते हैं.'

तीसरा उदाहरण मेरे मत से अंग्रेजी में प्रेमचंद पर लिखी गयी सर्वोत्तम पुस्तक 'मुंशी प्रेमचंद ऑफ लमही विलेज' नामक राबर्ट ओ. स्वान की पुस्तक से है. इसमें से एक ही उदाहरण प्रस्तुत है, जब स्वान समाजवाद की चर्चा में लिखते हैं—

'1920 में प्रेमचंद ने एक कहानी लिखी—'पशु से मनुष्य' (तोल्स्तोय के नये प्रभाव में)—इसमें एक गरीब माली अपने मालिक के बागीचे से फल चुराता है, क्योंकि मालिक उसे पर्याप्त वेतन नहीं देता था. एक दिन मालिक उसकी चोरी पकड़ लेता है और उसे निकाल देता है. सुदैव से वही माली एक अच्छे प्रगतिशील मालिक के यहां नौकरी करता है, जो अपने बागीचे का मुनाफा अपने कामगारों में बराबर-बराबर बांटकर चलता है. एक दिन पुराना मालिक नये मालिक से मिलता है, और फिर बाकी कहानी नये मालिक के आर्थिक विचारों का स्पष्टीकरण है. समाजवादी मालिक पूछता है कि जो लोग जीवन की अच्छी चीजें पैदा करते हैं, उन्हें 'नीचा' क्यों समझा जाता है और जो केवल सुख-विलास भोगते हैं या संपत्ति-निर्माण में अपना हिस्सा बंटाते हैं, वे बड़े क्यों हैं? अगर आज सारे वकील देश से निकाल दिये जायें, या अफसर अमला गायब हो जायें या सब दलाल स्वर्ग में चले जायें, तो भी दुनिया का काम तो उसी तरह बल्कि और आसानी से चलता रहेगा.'

कुछ व्यक्तिगत साक्ष्य

प्रेमचंद ने मुझे एक पोस्टकार्ड पर लिखा था—'मैं तुम्हें क्या पारिश्रमिक दूंगा, 'हंस' का तो मैं खुद एक ऑनरेरी संपादक हूं.' यानी वे घाटा उठाकर भी 'जागरण' और 'हंस' जैसी पत्रिकाएं तब चला रहे थे. यह सच है कि प्रेमचंद ने हिम्मत कभी नहीं हारी. वे भूख के खिलाफ अपनी न्याय की लड़ाई बराबर लड़ते रहे. वे समाज में मानव-मानव में सामानता लाना चाहते थे. चाहे ब्राह्मण हो या अछूत, स्त्री या पुरुष, गांववाला या शहराती, हिंदू या मुसलमान, गरीब या अमीर, सबके लिए वे एक-सा, दर्जा चाहते थे. उसी पीड़ा में से उनकी अनेक रचनाएं निकली हैं.

(पृष्ठ 60 पर जारी)

पूस की रात

प्रेमचंद की रचनाएं : दो

हल्कू ने आकर स्त्री से कहा—सहना आया है. लाओ, जो रुपये रखे हैं, उसे दे दूं, किसी तरह गला तो छूटे.

मुन्नी झाड़ू लगा रही थी. पीछे फिरकर बोली—तीन ही तो रुपये हैं, दे दोगे तो कम्मल कहां से आवेगा? माघ-पूस की रात हार में कैसे कटेगी? उससे कह दो, फसल पर दे देंगे. अभी नहीं.

हल्कू एक क्षण अनिश्चित दशा में खड़ा रहा. पूस सिर पर आ गया, कम्मल के बिना हार में रात को वह किसी तरह सो नहीं सकता. मगर सहना मानेगा नहीं, घुड़कियां जमावेगा, गालियां देगा. बला से जाड़ों में मरेंगे, बला तो सिर से टल जायेगी. यह सोचता हुआ वह अपना भारी-भरकम डील लिये हुए (जो उसके नाम को झूठ सिद्ध करता था) स्त्री के समीप आ गया और खुशामद करके बोला—ला, दे दे, गला तो छूटे. कम्मल के लिए कोई दूसरा उपाय सोचूंगा.

मुन्नी उसके पास से दूर हट गयी और आंखें तरेरती हुई बोली—कर चुके दूसरा उपाय! जरा सुनूं तो कौन उपाय करोगे? कोई खैरात दे देगा कम्मल? न जाने कितनी बाकी है, जो किसी तरह चुकने में ही नहीं आती. मैं कहती हूं, तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? मर-मर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई. बाकी चुकाने के लिए ही तो हमारा जनम हुआ है. पेट के लिए मजूरी करो. ऐसी खेती से बाज आये. मैं रुपये न दूंगी, न दूंगी!

हल्कू उदास होकर बोला—तो क्या गाली खाऊं?

मुन्नी ने तड़पकर कहा—गाली क्यों देगा, क्या उसका राज है? मगर यह कहने के साथ ही उसकी तनी हुई भौंहें ढीली पड़ गयीं. हल्कू के उस वाक्य में जो कठोर सत्य था, वह मानो एक भीषण जंतु की भांति उसे घूर रहा था.

उसने जाकर आले पर से रुपये निकाले और लाकर हल्कू के हाथ पर रख दिये. फिर बोली—तुम छोड़ दो अबकी से खेती. मजूरी में सुख से एक रोटी खाने को तो मिलेगी, किसी की धौंस तो न रहेगी. अच्छी खेती है! मजूरी करके लाओ, वह भी उसी में झोंक दो, उस पर धौंस.

हल्कू ने रुपये लिये और इस तरह बाहर चला, मानो अपना हृदय निकालकर देने जा रहा हो. उसने मजूरी से एक-एक पैसा काट-काटकर तीन रुपये कंबल के लिए जमा किये थे. वह आज निकले जा रहे थे. एक-एक पग के साथ उसका मस्तक अपनी दीनता के भार से दबा जा रहा था.

2

पूस की अंधेरी रात! आकाश पर तारे भी ठिठुरते हुए मालूम होते थे. हल्कू अपने खेत के किनारे ऊख के पत्तों की एक छतरी के नीचे बांस के खटोले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े पड़ा कांप रहा था. खाट के नीचे जबरा पेट में मुंह डाले सर्दी से कूं-कूं कर रहा था. दो में से एक को भी नींद न आती थी.

हल्कू ने घुटनियों को गरदन में चिपकाते हुए कहा—क्यों जबरा, जाड़ा लगता है? कहता तो था, घर में पुआल पर लेट रह, तो यहां क्या लेने आये थे, अब खाओ ठंड, मैं क्या करूं, जानते थे, मैं यहां हलुवा-पूरी खाने आ रहा हूं, दौड़े-दौड़े आगे-आगे चले आये. अब रोओ नानी के नाम को.

जबरा ने पड़े-पड़े दुम हिलायी और अपनी कूं-कूं को दीर्घ बनाता हुआ एक बार जम्हाई लेकर चुप हो गया. उसकी श्वान बुद्धि ने शायद ताड़ लिया, स्वामी को मेरी कूं-कूं से नींद नहीं आ रही है. हल्कू ने जबरा की ठंडी पीठ सहलाते हुए कहा—कल से मत आना मेरे साथ, नहीं तो ठंडे हो जाओगे. यह रांड पछुआ न जाने कहां से बरफ लिये आ रही है. उठूं, फिर एक चिलम भरूं. किसी तरह रात तो कटे! आठ चिलम तो पी चुका. यह खेती का मजा है! और एक भागवान ऐसे पड़े हैं, जिनके पास जाड़ा जाये तो गरमी से घबड़ाकर भागे. मोटे-मोटे गद्दे, लिहाफ, कंबल. मजाल है, जाड़े का गुजर हो जाये. तकदीर की खूबी है! मजूरी हम करें, मजा दूसरे लूटें! हल्कू उठा, गड्ढे में से जरा-सी आग निकालकर चिलम भरी. जबरा भी उठ बैठा.

हल्कू ने चिलम पीते हुए कहा—पियेगा चिलम, जाड़ा तो क्या जाता है, हां, जरा मन बदल जाता है.

जबरा ने उसके मुंह की ओर प्रेम से छलकती हुई आंखों से देखा—आज और जाड़ा खा ले. कल से मैं यहां पुआल बिछा दूंगा. उसी में घुसकर बैठना, तब जाड़ा न लगेगा.

जबरा ने अपने पंजे उसकी घुटनियों पर रख दिये और उसके मुंह के पास अपना मुंह ले गया. हल्कू को उसकी गर्म सांस लगी. चिलम पीकर हल्कू फिर लेटा और निश्चय करके लेटा कि चाहे कुछ हो, अबकी सो जाऊंगा; पर एक ही क्षण में उसके हृदय में कंपन होने लगा. कभी इस करवट लेटता, कभी उस करवट, पर जाड़ा किसी पिशाच की भांति उसकी छाती को दबाये हुए था.

जब किसी तरह न रहा गया तो उसने जबरा को धीरे से उठाया और उसके सिर को थपथपाकर उसे अपनी गोद में सुला लिया. कुत्ते की देह से जाने कैसी दुर्गंध आ रही थी, पर वह उसे अपनी गोद में चिमटाये हुए ऐसे सुख का अनुभव कर रहा था, जो इधर महीनों से उसे न मिला था. जबरा शायद समझ रहा था कि स्वर्ग यहीं है. और हल्कू की पवित्र आत्मा में तो उस कुत्ते के प्रति घृणा की गंध तक न थी. अपने किसी अभिन्न मित्र या भाई को भी वह इतनी ही तत्परता से गले लगाता. वह अपनी दीनता से आहत न था, जिसने आज उसे इस दशा को पहुंचा दिया. नहीं, इस अनोखी मैत्री ने जैसे उसकी आत्मा के सब द्वार खोल दिये थे और उसका एक-एक अणु प्रकाश से चमक रहा था.

सहसा जबरा ने किसी जानवर की आहट पायी. इस विशेष आत्मीयता ने उसमें एक नयी स्फूर्ति पैदा कर दी थी, जो हवा के ठंडे झोंकों को तुच्छ समझती थी. वह झटपट उठा और छपरी के बाहर आकर भूंकने लगा. हल्कू ने उसे कई बार चुमकारकर बुलाया; पर वह उसके पास न आया. हार में चारों तरफ दौड़-दौड़कर भूंकता रहा. आ भी जाता, तो तुरंत ही फिर दौड़ता. कर्तव्य उसके हृदय में अरमान की भांति उछल रहा था.

3

एक घंटा गुजर गया. रात ने शीत को हवा से धधकाना शुरू किया. हल्कू उठ बैठा और दोनों घुटनों को छाती से मिलाकर सिर को उसमें छिपा लिया, फिर भी ठंड कम न हुई. ऐसा जान पड़ता था, सारा रक्त जम गया है, धमनियों में रक्त की जगह हिम बह रही है. उसने झुककर आकाश की ओर देखा, अभी कितनी रात बाकी है! सप्तर्षि अभी आकाश में आधे भी नहीं चढ़े. ऊपर आ जायेंगे, तब कहीं सवेरा होगा. अभी पहर से ऊपर रात है.

हल्कू के खेत से कोई एक गोली के टप्पे पर आमों का एक बाग था. पतझड़ शुरू हो गया था. बाग में पत्तियों का ढेर लगा हुआ था. हल्कू ने सोचा, चलकर पत्तियां बटोरूं और उन्हें जलाकर खूब तापूं. रात को कोई मुझे पत्तियां बटोरते देखे तो समझे, कोई भूत है. कौन जाने, कोई जानवर ही छिपा बैठा हो; मगर अब तो बैठे नहीं रहा जाता.

उसने पास के अरहर के खेत में जाकर कई पौधे उखाड़ लिये और उनका एक झाड़ू बनाकर हाथ में सुलगता हुआ उपला लिये बगीचे की तरफ चला. जबरा ने उसे आते देखा. पास आया और दुम हिलाने लगा.

हल्कू ने कहा—अब तो नहीं रहा जाता जबरू! चलो, बगीचे में पत्तियां बटोरकर तापें. टांटे हो जायेंगे, तो फिर आकर सोयेंगे. अभी तो बहुत रात है. जबरा ने कूं-कूं करके सहमति प्रकट की और आगे बगीचे की ओर चला.

बगीचे में खूब अंधेरा छाया हुआ था और अंधकार में निर्दय पवन पत्तियों को कुचलता हुआ चला जाता था. वृक्षों से ओस की बूंदें टपटप नीचे टपक रही थीं. एकाएक एक झोंका मेंहदी के फूलों की खुशबू लिये हुए आया.

हल्कू ने कहा—कैसी अच्छी महक आयी जबरू! तुम्हारी नाक में भी कुछ सुगंध आ रही है? जबरा को कहीं जमीन पर एक हड्डी पड़ी मिल गयी थी. उसे चिचोड़ रहा था.

हल्कू ने आग जमीन पर रख दी और पत्तियां बटोरने लगा. जरा देर में पत्तियों का ढेर लग गया. हाथ ठिठुरे जाते थे. नंगे पांव गले जाते थे और वह पत्तियों का पहाड़ खड़ा कर रहा था. इसी अलाव में वह ठंड को जलाकर भस्म कर देगा.

थोड़ी देर में अलाव जल उठा. उसकी लौ ऊपर वाले वृक्ष की पत्तियों को छू-छूकर भागने लगी. उस अस्थिर प्रकाश में बगीचे के विशाल वृक्ष ऐसे मालूम होते थे, मानो उस अथाह अंधकार को अपने सिरों पर संभाले हुए हों. अंधकार के उस आनंद सागर से यह प्रकाश एक नौका के समान हिलता, मचलता हुआ जान पड़ता था.

हल्कू अलाव के सामने बैठा आग ताप रहा था. एक क्षण में उसने दोहर उतारकर बगल में दबा ली. दोनों पांव फैला दिये, मानो ठंड को ललकार रहा हो—तेरे जी में आये सो कर. ठंड की असीम शक्ति पर विजय पाकर वह विजय-गर्व को हृदय में छिपा न सकता था. उसने जबरा से कहा—क्यों जब्बर, अब ठंड नहीं लग रही है?

गब्बर ने कूं-कूं करके मानो कहा—अब क्या ठंड ही लगती रहेगी?

"पहले से यह उपाय न सूझा, नहीं इतनी ठंड क्यों खाते." जब्बर ने पूंछ हिलायी.

"अच्छा आओ, इस अलाव को कूदकर पार करें. देखें, कौन निकल जाता है; अगर जल गये बच्चा, तो मैं दवा न करूंगा."

जब्बर ने उस अग्नि-राशि की ओर कातर नेत्रों से देखा!

मुन्नी से कल न कह देना, नहीं तो लड़ाई करेगी.

यह कहता हुआ वह उछला और उस अलाव के ऊपर से साफ निकल गया. पैरों में जरा लपट लगी; पर वह कोई बात नहीं थी. जबरा आग के गिर्द घूमकर उसके पास आ खड़ा हुआ.

हल्कू ने कहा—चलो-चलो, इसकी सही नहीं! ऊपर से कूदकर आओ. वह फिर कूदा और अलाव के इस पार आ गया.

4

पत्तियां जल चुकी थीं. बगीचे में फिर अंधेरा छाया था. राख के नीचे कुछ-कुछ आग बाकी थी, जो हवा का झोंका आ जाने पर जरा जाग उठती थी, पर एक क्षण में फिर आंखें बंद कर लेती थी.

हल्कू ने फिर चादर ओढ़ ली और गर्म राख के पास बैठा हुआ एक गीत गुनगुनाने लगा. उसके बदन में गर्मी आ गयी थी, पर ज्यों-ज्यों शीत बढ़ती जाती थी, उसे आलस्य दबाये लेता था.

जबरा जोर से भूंककर खेत की ओर भागा. हल्कू को ऐसा मालूम हुआ कि जानवरों का एक झुंड उसके खेत में आया है. शायद नीलगायों का झुंड था, उनके कूदने-दौड़ने की आवाजें साफ कान में आ रही थीं, फिर ऐसा मालूम हुआ कि खेत में चर रही हैं. उनके चबाने की आवाज चर-चर सुनाई देने लगी.

उसने दिल में कहा—नहीं, जबरा के होते कोई जानवर खेत में नहीं आ सकता. नोच ही डाले, मुझे भ्रम हो रहा है. कहां! अब तो कुछ दिखाई नहीं देता. मुझे भी कैसा धोखा हुआ!

उसने जोर से आवाज लगायी— जबरा, जबरा!

जबरा भूंकता रहा, उसके पास न आया.

फिर खेत के चरे जाने की आहट मिली. अब वह अपने को धोखा न दे सका. उसे अपनी जगह से हिलना जहर लग रहा था. कैसा दंदाया हुआ बैठा था. इस जाड़े-पाले में खेत में जाना, जानवरों के पीछे दौड़ना असहाय जान पड़ा. वह अपनी जगह से न हिला. उसने जोर से आवाज लगायी—हिलो! हिलो! हिलो! जबरा फिर भूंक उठा. जानवर खेत चर रहे थे. फसल तैयार है. कैसी अच्छी खेती थी; पर ये दुष्ट जानवर उसका सर्वनाश किये डालते हैं.

हल्कू पक्का इरादा करके उठा और दो-तीन कदम चला, पर एकाएक हवा का ऐसा ठंडा, चुभनेवाले बिच्छू के डंक का-सा झोंका लगा कि वह फिर बुझते हुए अलाव के पास आ बैठा और राख को कुरेदकर अपनी ठंडी देह को गर्माने लगा.

जबरा अपना गला फाड़े डालता था, नीलगायें खेत का सफाया किये डालती थीं और हल्कू गर्म राख के पास शांत बैठा हुआ था. अकर्मण्यता ने रस्सियों की भांति उसे चारों तरफ से जकड़ रखा था. उसी राख के पास गर्म जमीन पर वह चादर ओढ़कर सो गया.

सबेरे जब उसकी नींद खुली, तब चारों तरफ धूप फैल गयी थी और मुन्नी कह रही थी—क्या आज सोते ही रहोगे? तुम यहां आकर रम गये और उधर सारा खेत चौपट हो गया.

हल्कू ने उठकर कहा—क्या तू खेत से होकर आ रही है?

मुन्नी बोली—हां, सारे खेत का सत्यानाश हो गया. भला ऐसा भी कोई सोता है. तुम्हारे यहां मंड़ैया डालने से क्या हुआ?

हल्कू ने बहाना किया—मैं मरते-मरते बचा, तुझे अपने खेत की पड़ी है. पेट में ऐसा दर्द हुआ, ऐसा दर्द हुआ कि मैं ही जानता हूं! दोनों फिर खेत के डांड़ पर आये. देखा, सारा खेत रौंदा पड़ा हुआ है और जबरा मंड़ैया के नीचे चित लेटा है, मानो प्राण ही न हो. दोनों खेत की दशा देख रहे थे. मुन्नी के मुख पर उदासी छायी थी, पर हल्कू प्रसन्न था.

मुन्नी ने चिंतित होकर कहा—अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी. हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा—रात को ठंड में यहां सोना तो न पड़ेगा. □

प्रेमचंद ने शिवरानीदेवी से विवाह कैसे किया ?

प्रेमचंद ने अपने जीवन में दो स्त्रियों से विवाह किया. पहली स्त्री कुरूप, असभ्य, कलहप्रिय थी. गृह-कलह के कारण वह अपने पीहर चली गयी और फिर कभी नहीं लौटी. इसके बाद प्रेमचंद ने एक बाल-विधवा शिवरानीदेवी से मार्च, 1906 (शिवरात्रि) में विवाह किया. यह विवाह 'कायस्थ बाल विधवा उद्धारक' नामक पुस्तिका के कारण संभव हो सका, जो प्रेमचंद के ससुर मुंशी देवी प्रसाद ने यूनियन प्रेस, इलाहाबाद से सन् 1905 में प्रकाशित करके चारों ओर वितरित की. मुंशी देवी प्रसाद ने 'मूर्ख' उपनाम से यह पुस्तिका लिखी और कायस्थ भाइयों से पुनर्विवाह करने और कराने की अपील की. इसके लिए उन्होंने वेदों, शास्त्रों एवं महात्माओं के प्रमाण भी उपस्थित किये. प्रेमचंद को जब यह पुस्तिका पढ़ने का अवसर मिला, तो उन्होंने तुरंत मुंशी देवी प्रसाद से संपर्क किया. उन्हें अपनी नौकरी, परिवार आदि का विवरण भेजते हुए लड़की का फोटो मंगवाया. मुंशी देवी प्रसाद ने तुरंत उत्तर दिया और फतेहपुर बुलाया. प्रेमचंद फतेहपुर पहुंचे और मुंशी देवी प्रसाद ने अपनी बाल-विधवा पुत्री शिवरानी के लिए उन्हें पसंद कर लिया. प्रेमचंद अपने दोस्त मुंशी दयानारायण निगम, छोटे भाई महताबराय तथा दो-तीन अन्य दोस्तों के साथ बारात लेकर पहुंचे और फाल्गुन में शिवरात्रि के दिन विवाह हो गया.

प्रस्तुति : कमल किशोर गोयनका

एक निहायत मामूली आदमी की गैरमामूली उपलब्धियों का नाम है प्रेमचंद

● फिराक गोरखपुरी

मुंशी प्रेमचंद स्वयं में एक मुजस्सम दास्तान थे. यूं हर आदमी अपने में एक मुजस्सम दास्तान है. परंतु उसे इसका एहसास नहीं है. उन्हें इसका एहसास था और उस अनुभूति की आत्म-विश्वासपूर्ण अभिव्यक्ति हम उनकी हर कहानी में पाते हैं. प्रगतिशील आंदोलन के साथ मेरी हमदर्दी है तथापि मुझे यह बराबर शिकायत रही है कि उनके लिए साहित्य बराबर 'सब्सिडियरी' रहा है. उनके लिए साहित्य पार्टी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए महज एक हथियार था और है. यही कारण है कि प्रगतिशील आंदोलन एक भी बड़ा सृजनशील साहित्यकार अथवा रचनाकार नहीं दे पाया. मुंशी प्रेमचंद इसमें अपवाद रूप में हमारे सामने आते हैं. उनके लिए लिखना अथवा रचना एक धर्म की पवित्रता हासिल कर चुका था. वे साहित्य को प्राथमिकता देते थे, उन्होंने अपने सर्जन को कभी 'सब्सिडियरी' नहीं होने दिया. हालांकि यह सच है, वे प्रगतिशील आंदोलन से उतनी गहरायी से नहीं जुड़े थे.

प्रेमचंद जिस समय उर्दू में लिखते थे, मौलाना शिबली ने उनके बारे में कहा, "हिंदुस्तान में इस समय सात करोड़ मुसलमान हैं, लेकिन एक भी मुसलमान इतनी अच्छी उर्दू नहीं लिख पाता. 'जमाना' नामक रिसाले में उनकी कहानियां शाया होती थी, जिसका हम सब बेसब्री से इंतजार किया करते थे.

मुंशी प्रेमचंद आदर्शवादी रचनाकार हैं, उनका आदर्शवाद उन्हें आज के परिवेश से जोड़ता नहीं, तोड़ता है. वे अपने आदर्शवाद के चलते हवा में लटकने वाले रचनाकार होकर रह गये हैं. मेरी दृष्टि में प्रेमचंद शरद की भांति आधुनिक संचेतना से अलग-थलग कटे हुए रचनाकार हैं. बंकिम अधिक आधुनिक हैं.

मुंशी प्रेमचंद एक ओर मार्क्सवादी

प्रेमचंद : 1925

'वे मुझसे उम्र में बड़े थे, फिर भी यह उनकी मेहरबानी थी कि उन्होंने मुझे दोस्त का दर्जा दिया. हमारे बीच दोस्ती की एक मर्यादा बराबर रही.' प्रेमचंद की कहानी मशहूर शायर फिराक गोरखपुरी की जुबानी. हालांकि फिराक साहब जिंदगी के लंबे सफर से थक गये हैं, बीमार हैं लेकिन प्रेमचंद के नाम से वे धाराप्रवाह बोलते गये. . . .

प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े हैं, दूसरी ओर उन पर गांधीवादी आदर्शवाद हावी है. यह अंतर्विरोध उनके भीतर की तलाश की छटपटाहट को रेखांकित करता है. वे समस्याएं उठाते तो हैं, परंतु हल नदारद. हल देना रचनाकार के लिए मैं आवश्यक भी नहीं मानता, फिर भी जिस शिद्दत के साथ वे समस्याएं उठाते हैं, उसमें पाठक हल की अपेक्षा करने लगता है. ताल्स्तोय भी इसी आदर्शवाद के शिकार हो गये हैं.

कहानीकार प्रेमचंद, उपन्यासकार प्रेमचंद से बड़े हैं, यद्यपि अपने उपन्यासों में वे बड़े होते नजर आते हैं. उपन्यास में जहां वे निदान के रूप में आश्रम आदि को प्रस्तुत करते हैं, रचनाकार के रूप में कमजोर पड़ते हैं. उनकी रचनाएं क्रांति का संकेत तो देती हैं, परंतु वे क्रांति के बारे में एक शब्द भी नहीं जानते थे. यद्यपि वे शोषणविहीन समता पर आधारित समाज संरचना की बात करते थे, परंतु प्रायोगिक समाजवाद के बारे में उन्हें कुछ भी नहीं मालूम था.

मैंने प्रेमचंद को बहुत करीब से देखा है, पढ़ा है, जाना है. रचना प्रक्रिया में उनकी तल्लीनता, उनकी तन्मयता, उनका समर्पण देखने जैसा होता था. वे रचनाकार से स्वयं एक रचना बन जाते थे. यही कारण है कि उनकी रचना और भावुक पाठक के बीच एक सीधा संवाद होता है, एक सीधा संपर्क होता है. एक सीधा संप्रेषण होता है.

उनकी रचना और उनके व्यक्तित्व में अवसाद की एक अंतःसलिला निरंतर बहती महसूस होती है. उनका यह अवसाद बहुत कुछ राम के बनवास जैसा है. सन् 1916 में गर्मी के दिनों में, एक लंबी-चौड़ी इमारत के बरामदे में जिसमें अब इंपीरियल बैंक, गोरखपुर की शाखा का दफ्तर है, मेरी उनसे पहली मुलाकात हुई थी. तब मैं म्योर सेंट्रल कॉलिज इलाहाबाद में बी. ए. का विद्यार्थी था. हमारी यह मुलाकात जल्दी ही गहरी दोस्ती में बदल गयी, जो उनके मृत्युपर्यंत चलती रही. उनसे इस भेंट के पहले ही मेरी मुलाकात रचनाओं से हो चुकी थी. मैं उनकी कहानियों का इस कदर मुरीद हो गया था कि प्रेमचंद नामक व्यक्ति से परोक्ष रूप से मुझे प्रेम हो गया था.

वे मुझसे उम्र में बड़े थे, फिर भी यह उनकी मेहरबानी थी कि उन्होंने मुझे दोस्त का दर्जा दिया. अपने स्कूली दिनों में जब मैं महज दस-बारह साल का था, 'जमाना' में उनकी पहली कहानी मैंने पढ़ी थी. उसका प्रभाव आज भी दिल और दिमाग पर है.

मुंशी प्रेमचंदजी बहुत खामोश व्यक्ति थे. उनकी खामोशी किसी घुन्ने की खामोशी नहीं थी. खामोशी को वे मनन के लिए जरूरी मानते थे. अपने निजी संदर्भों पर वे बात नहीं करते थे. जीवन और साहित्य के पहलुओं पर बात और मनन उनका स्वभाव था.

डाकखाने के एक मामूली डाकमुंशी के सुपुत्र मुंशी प्रेमचंद ने मध्यवर्गीय जीवन को इस प्रकार अपनी कहानी का विषय चुना और उन क्षणों को अमर बना दिया. अंग्रेजी कहानी में ऐसा ही कुछ काम जार्ज गिसिंग ने किया है. आरंभिक शिक्षा के उपरांत उनकी शिक्षा गोरखपुर में हुई. यहां उनकी दोस्ती एक ऐसे लड़के से हुई जो तंबाकू बेचनेवाले का बेटा था. स्कूल के बाद हजरत उसके साथ उसके घर पर हुक्का पीते थे. हुक्का पीते हुए वे 'तिलिस्म होशरुबा' पढ़ते थे. यहीं मुंशी प्रेमचंद में भावी कहानीकार ने पलकें खोलीं, पंख खोले और कथा गगन में उड़ान भरनी शुरू की.

डिप्टी इंस्पेक्टरी के दिनों में ही प्रेमचंदजी ने कहानियां लिखनी शुरू कर दी थीं. उनकी एक-एक रचना कथा-यात्रा के एक के बाद दीगर महत्वपूर्ण मरहले तय करती हुई आगे बढ़ रही थी. 'सोजेवतन' न केवल उनकी कथायात्रा वरन् समसामयिक भारतीय साहित्य की कथायात्रा का एक विशिष्ट सोपान है.

बात सन् 1907 की है, अतिरिक्त सतर्क अधिकारियों ने उनकी कहानियों के लिए उनसे कैफियत तलब की और

'मुंशी प्रेमचंदजी बहुत खामोश व्यक्ति थे. उनकी खामोशी किसी घुन्ने की खामोशी नहीं थी. खामोशी को वे मनन के लिए जरूरी मानते थे.'

फिराक गोरखपुरी

उन्होंने मुझसे यह साफ-साफ बतलाया था कि किस प्रकार जिला विद्यालय निरीक्षक ने उन्हें अपनी उस पुस्तक की पांच सौ प्रतियां जलाने के लिए विवश किया था.

उर्दू से हिंदी में उनका पदार्पण दुर्भाग्य-पूर्ण निर्णय है, क्योंकि उर्दू से हिंदी में आने पर उनकी भाषा में, अभिव्यक्ति में कमजोरी आयी, क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से उनकी जबान बनावटी हो गयी. फिर भी अपने जमाने के सभी भारतीय कथाकारों में उनकी जबान सबसे अधिक सहज प्रवाहमयी थी, क्योंकि वे अपने साथ उर्दू का संस्कार लेकर हिंदी में आये थे. प्रेमचंदजी दो दुनियाओं के बीच जी रहे थे. एक वह, जो मुर्दा हो चुकी थी, दूसरी, जो पैदा होने को तैयार नहीं थी.

सन् 1919 में मेरे पी. सी. एस. छोड़ने के थोड़े समय बाद ही मुंशी प्रेमचंदजी, जिनकी उम्र तीस वर्ष से कुछ अधिक रही होगी, ने भी नौकरी छोड़ दी.

मुंशी प्रेमचंद की रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर सभ्यता के आदि प्रवर्तकों के पहले कदमों की चाप सुनायी पड़ती है. प्रेमचंद जी की लगभग पचास कहानियां ऐसी हैं, जिन्हें बड़े चाव से बालक पढ़ते हैं और जिन्हें संसार के श्रेष्ठतम बाल-साहित्य के समकक्ष रखा जा सकता है. यह बात अलग है कि उनकी सभी छोटी कहानियां समान रूप से सफल नहीं हुईं.

वे कविता के प्रति उदासीन रहे. मुझे हैरत होती यह देखकर कि कविता उनके दिल में कोई हरारत क्यों नहीं पैदा करती? मैं कविता को श्रेष्ठतर मानता हूं. उसके प्रति उदासीन व्यक्ति तबीयत से इतना बड़ा कैसे हो हो गया, यह मेरे लिए बराबर एक पहेली रही. मुझे लगा कि वे जो गद्य के पंडित होते हैं, काव्य के गुण ग्राहक नहीं होते. बेकन हों या जानसन, हेजालिट हो या कारलाइल, या रस्किन को ही देखें, वे कविता के प्रति बराबर उदासीन रहे. वर्ड्सवर्थ और शैली परस्पर एक-दूसरे की कविता पर नाक-भौं सिकोड़ते रहे. भावुक कवि क्या कभी दुष्ट आत्मश्लाघा और परनिंदा से बच सकता है? ऐसे मनोविकारों के दास मुंशी प्रेमचंद भला कैसे होते.

फिराक साहब के इस कथन पर मैंने जिज्ञासा की कि एक ओर तो आप यह बता रहे हैं कि मुंशी प्रेमचंद कविता के प्रति उदासीन रहे, दूसरी ओर यह कि 'चांद' में प्रकाशित महादेवी वर्मा के गीतों को सराहते हुए उन्होंने पत्र लिखे थे, इस तथ्य से आपके कथन की संगति नहीं बैठती. मैंने स्पष्टतः यह देखा कि फिराक साहब ने बात टाल दी. □

प्रस्तुति : उमाकांत मालवीय

'हंस'–प्रथम अंक का मुखपृष्ठ

प्रेमचंद ने 'हंस' का संपादन कैसे छोड़ा?

●कमल किशोर गोयनका

प्रेमचंद ने जयशंकर प्रसाद को एक पत्र में लिखा था—'काशी से कोई साहित्यिक पत्रिका न निकलती थी. मैं धनी नहीं हूं, मजदूर आदमी हूं, मैंने 'हंस' निकालने का निश्चय कर लिया है'. इस प्रकार प्रेमचंद ने हिंदी पत्रकारिता को कितना गौरवान्वित किया और कितने कष्ट झेले—यहां प्रस्तुत है उसी गौरवगाथा का लेखा-जोखा :

प्रेमचंद के संपादन में 'हंस' का प्रवेशांक बसंत पंचमी : मार्च, 1930 को प्रकाशित हुआ. यह नाम उनके मित्र एवं प्रख्यात कवि जयशंकर प्रसाद ने छह माह पूर्व सुझाया था.

उनके एक निकट के रिश्तेदार थे जो विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे. प्रेमचंद ने उन्हें 'प्रियकान्ह जी' के संबोधन से 3 दिसंबर, 1928 को पत्र लिखा और 'हंस' निकालने में साझा करने के लिए अमंत्रित किया. इसी पत्र में प्रेमचंद ने पत्रिका की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए लिखा कि प्रत्येक अंक में तीन मौलिक तथा दो अनूदित कहानियां, आठ पृष्ठों में धारावाहिक उपन्यास, आठ पृष्ठों में सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक टिप्पणियां, चार पृष्ठों में श्रेष्ठ पुस्तकों की समीक्षाएं तथा शेष बारह पृष्ठों में इतिहास, सेक्स तथा यात्रा आदि पर सामग्री हो सकती है. जो भी सामग्री विचारों को उत्तेजित तथा उत्सुकता उत्पन्न कर सके तथा समाज की अंतर्धारा का स्पर्श करती हो उसे पत्रिका में स्थान मिलेगा.

उन्हें विश्वास था, एक वर्ष के बाद पत्रिका इस स्थिति में आ जायेगी कि वह कुछ आर्थिक लाभ देने लगेगी. लेकिन जीवन-पर्यंत आर्थिक संकट के साथ उन्हें अंग्रेजी सरकार की सेंसरशिप का दंश भी भोगना पड़ा. 'जागरण' के प्रकाशन के कारण घाटा और भी बढ़ने लगा. माह अक्टूबर-नवंबर, 1933 में उन्होंने 'हंस' का 'काशी विशेषांक' निकाला. लेकिन उसने आर्थिक संकट को और बढ़ा दिया. उन्होंने अभिन्न दोस्त मुंशी दयानारायण निगम को 9 जनवरी, 1934 को सारी व्यथा बताकर लिखा —'हंस' का काशी नंबर तो आपको मिल गया है? आप जरा इसकी तनकीद करवा दीजिएगा. इस नंबर पर मेरे तकरीबन 1200 रुपये खर्च हुए हैं. 400 रुपये का तो कागज लग गया. 200 रुपये के ब्लॉक और 450 की छपाई. महसूल डाक वगैरह में 200 रुपये खर्च हो गये. खयाल था कि इस नंबर से पर्चे की इशाअत में माकूल इजाफा होगा. अंदाजा था कि दो-ढाई सौ खरीददार बढ़ जायेंगे, मगर नतीजा बिलकुल बर-अक्स. 500 वी. पी. गये थे, उनमें 300 वापस आ गये. दफ्तर में खस्ता-हाल रिसालों का ढेर लगा हुआ है. शुरू से लेकर अब तक कागजवालों के 2000 रुपये बाकी हैं. बमुश्किल 500 रुपये दे सका.

इसीलिए, फिल्म डायरेक्टर भवनानी ने जब आठ हजार रुपये वार्षिक पर उन्हें अपने यहां बुलाया तो उन्होंने तुरंत स्वीकार कर लिया. उन्हें यकीन था कि एक-दो साल बंबई में रहा तो कर्ज से मुक्त हुआ जा सकेगा, लेकिन नौ महीने बाद ही उन्हें बनारस लौट आना पड़ा. इसी बीच 2 मई, 1935 को बंबई से कन्हैयालाल मुंशी का पत्र मिला. मुंशी ने इंदौर में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में हुए हिंदी सम्मेलन की रिपोर्ट दी और 'राष्ट्र साहित्य बोर्ड' की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया.

कैसे छपेगा, कहां छपेगा ?

महात्मा गांधी और कन्हैयालाल मुंशी का विचार था कि एक अखिल भारतीय अंतर्प्रांतीय साहित्य परिषद की स्थापना की जाये और हिंदी भाषा के माध्यम से विभिन्न प्रांतीय भाषाओं के साहित्य को किसी पत्रिका के द्वारा प्रकाश में लाया जाये. 18 मई, 1935 को कन्हैयालाल मुंशी ने 'अंतर्प्रांतीय साहित्य परिषद्' की रूपरेखा भेजी तथा लिखा कि इसके लिए 'हंस' का उपयोग किया जा सकता है. प्रेमचंद ने तुरंत कन्हैयालाल मुंशी को उत्तर दिया और लिखा कि वे स्वयं प्रांतीय साहित्य को हिंदी भाषा के द्वारा पाठकों तक पहुंचाने के समर्थक रहे हैं. उन्होंने इसके लिये 'हंस' को भी समर्पित करने की स्वीकृति प्रदान की. प्रेमचंद ने 'हंस' की साख आदि के लिए कुछ धन-राशि देने का प्रस्ताव भी रखा, परंतु महात्मा गांधी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया. प्रेमचंद ने भी अपने प्रस्ताव पर अधिक जोर नहीं दिया और अंततः 'हंस लिमिटेड' का रजिस्ट्रेशन करवाकर 'हंस' पत्रिका उसे सौंप देने का निर्णय हुआ.

इस नयी व्यवस्था के अनुसार भारतीय साहित्य के मुखपत्र के रूप में 'हंस'

जन्मभूमि—लमही में स्थापित प्रेमचंद की प्रतिमा के साथ लेखक

का पहला अंक अक्तूबर, 1935 में प्रकाशित हुआ. इस अंक में प्रेमचंद के साथ कन्हैयालाल मुंशी का नाम भी संपादक के रूप में प्रकाशित हुआ.

महात्मा गांधी ने 'हंस' के संबंध में एक संदेश दिया जो उसमें बराबर छपता रहा—

"यदि हिंदी अथवा हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनना है, तो ऐसे मासिक की आवश्यकता है. प्रत्येक प्रांत की भाषा में जो लेख लिखे जाते हैं, उसका परिचय राष्ट्रभाषा द्वारा सबको मिलना चाहिए. बहुत खुशी की बात है कि अब ऐसा परिचय दिलचाहे उनको 'हंस' द्वारा प्रतिमास आधे रुपये में मिल सकेगा."

महात्मा गांधी के सुझाव से ही तय किया गया है कि 'हंस' में व्यापारिक संस्थाओं के विज्ञापन प्रकाशित नहीं किये जायेंगे. 'हंस' के सभी अंकों में घोषित किया गया कि पुस्तकों और साहित्य तथा शिक्षा संबंधी संस्थाओं के ही विज्ञापन छापे जाते हैं.

प्रेमचंद ने जिन शर्तों पर 'हंस' सौंपा था, उनमें एक शर्त यह भी थी कि 'हंस' का मुद्रण उनके प्रेस 'सरस्वती प्रेस' में ही होगा और 'हंस लिमिटेड' मुद्रण के लिए व्यापारिक दरों से भुगतान करेगी.

कुछ मास उपरांत महात्मा गांधी की अध्यक्षता में 'भारतीय साहित्य परिषद' की स्थापना हुई और 'हंस' परिषद को सौंप दिया गया. परिषद के कुछ सदस्य यह अनुभव कर रहे थे कि सरस्वती प्रेस में 'हंस' का मुद्रण कराने पर अधिक खर्च होता है. कन्हैयालाल मुंशी ने स्वयं प्रेमचंद को इस स्थिति से अवगत कराया. तब 4 जुलाई, 1936 को भारतीय साहित्य परिषद की कार्यकारिणी की बैठक बुलायी गयी, जिसमें इस समस्या का हल निकाला जा सके. 22 जून, 1936 को बंबई में कन्हैयालाल मुंशी और काका कालेलकर ने परस्पर विचार-विमर्श किया और इसके लिए तार देकर प्रेमचंद को भी बुलाया. प्रेमचंद बंबई नहीं जा पाये, क्योंकि वे 4 जुलाई को 'भारतीय साहित्य परिषद' के सम्मेलन में वर्धा जाना चाहते थे.

'हंस' जब बंद होने लगा

4 जुलाई, 1936 को वर्धा में हुई मीटिंग में तय हुआ कि 'हंस' का प्रकाशन-मुद्रण सरस्वती प्रेस, बनारस से हटाकर सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली को सौंप दिया जाये. इससे परिषद् को 50 रुपये मासिक की बचत हो सकेगी. प्रेमचंद को जब यह सूचना मिली तो उन्होंने तुरंत फैसला किया कि 'हंस' से पूर्ण रूप से संबंध तोड़ लेना चाहिए. वे अब 'हंस' पत्रिका को वापस भी नहीं ले सकते थे. उन्होंने कन्हैयालाल मुंशी को पत्र लिखा और 'हंस' के संपादक पद से इस्तीफा दे दिया. साथ ही उन्होंने निर्णय किया कि 'बीसवीं सदी' नाम से नयी पत्रिका निकाली जाये. अख्तर हुसैन 'रायपुरी' को 27 जुलाई, 1936 को उन्होंने अपनी आहत भावनाओं का खुलकर जिक्र करते हुए लिखा—'हंस' जिस लिटरेचर की इशाअत कर रहा था, वह हमारा लिटरेचर नहीं है, वह तो वही भक्तिवाला महाजनी लिटरेचर है, जो हिंदी जबान में काफी है."

मगर दो मास में ही कुछ ऐसी घटनाएं घटित हुईं कि 'हंस' फिर प्रेमचंद के पास लौट आया. हुआ यह कि 'हंस' के जून, जुलाई अंकों में सेठ गोविंद दास का नाटक 'सिद्धांत स्वातंत्र्य' प्रकाशित हुआ. अंग्रेजी सरकार को इसमें राजद्रोह की गंध मिली और उन्होंने 'हंस लिमिटेड' को तुरंत एक हजार की जमानत जमा करने के आदेश दिये. महात्मा गांधी जमानत देकर पत्रिका निकालने के विरोधी थे. उनके आदेश पर 'हंस लिमिटेड' ने जमानत देना अस्वीकार कर दिया. इस पर अंग्रेजी सरकार ने 'हंस' का प्रकाशन बंद करने के आदेश दे दिये. प्रेमचंद को यह सूचना कन्हैयालाल मुंशी और समाचारपत्रों से मिली. अब 'हंस' को फिर प्राप्त करने का रास्ता साफ हो गया. उन्होंने तुरंत गवर्नर को लिखा कि वे एक हजार रुपये जमा करके 'हंस' को पुनः निकालना चाहते हैं. वे घोर अस्वस्थता के बावजूद अपनी मानस-संतान 'हंस' को पुनः जीवित करने के उद्योग में लग गये. उनकी पत्नी शिवरानी देवी ने इस संबंध में हुई बातचीत को अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद घर में' में भी सविस्तार लिखा है कि कैसे उन्होंने सख्त बीमारी के बावजूद 'हंस' के प्रकाशन को जीने-मरने का सवाल बनाये रखा.

"हंस जिस लिटरेचर की इशायत कर रहा था वह हमारा लिटरेचर नहीं है..." —प्रेमचंद

महाजनी सभ्यता

प्रेमचंद ने 'हंस' की जमानत जमा करायी और सरकार से उसे पुनः प्रकाशित करने की अनुमति मिल गयी. ठीक समय पर 'हंस' का सितंबर, 1936 अंक प्रकाशित हुआ.

'हंस' के इसी अंक में उनका लेख 'महाजनी सभ्यता' भी छपा, जिसमें उन्होंने धन की सभ्यता की तीव्र आलोचना करते हुए वर्गहीन सामाजिक व्यवस्था की वकालत की. परंतु 'हंस' को जीवनदान देकर उन्हें अपना जीवन देना पड़ा. 'हंस' का सितंबर, 1936 का अंक निकालने के पश्चात 8 अक्टूबर, 1936 को उनका जीवनदीप सदैव के लिए बुझ गया. □
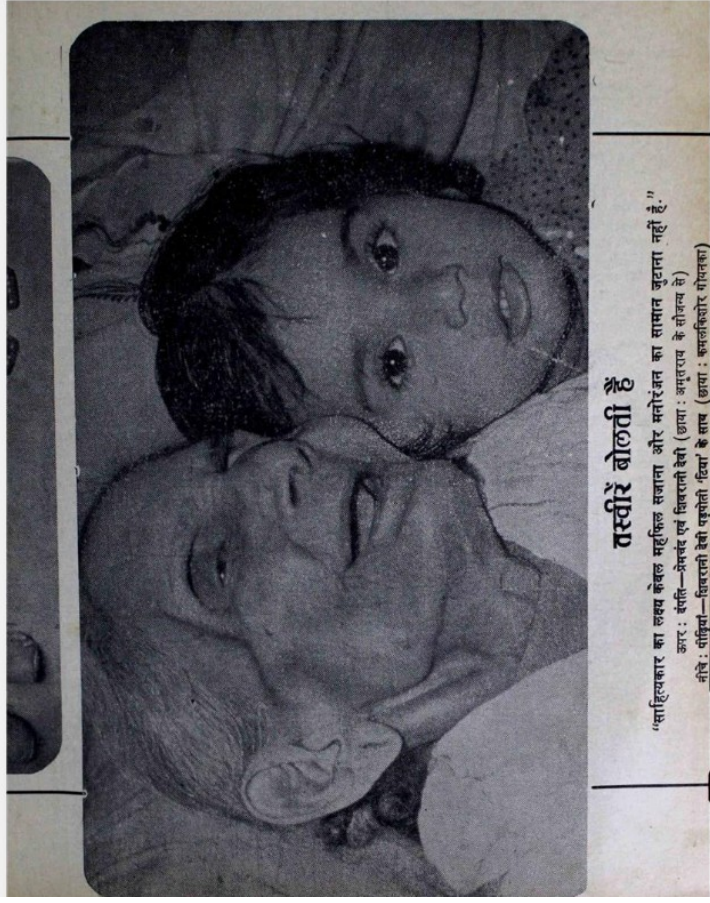
तस्वीरें बोलती हैं

"साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है."

ऊपर : दंपति—प्रेमचंद एवं शिवरानी देवी (छाया : अमृतराय के सौजन्य से)

नीचे : पीढ़ियां—शिवरानी देवी पड़पोती 'दिया' के साथ (छाया : कमलकिशोर गोयनका)

बड़े घर की बेटी

बेनीमाधव सिंह गौरीपुर गांव के जमींदार और नंबरदार थे. उनके पितामह किसी समय बड़े धन-धान्य संपन्न थे. गांव का पक्का तालाब और मंदिर जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्ति-स्तंभ थे. कहते हैं, इस दरवाजे पर हाथी झूमता था, अब उसकी जगह एक बूढ़ी भैंस थी, जिसके शरीर में अस्थिपंजर के सिवा और कुछ शेष न रहा था; पर दूध शायद बहुत देती थी, क्योंकि एक न एक आदमी हांडी लिये उसके सिर पर सवार ही रहता था. बेनीमाधव सिंह अपनी आधी से अधिक संपत्ति वकीलों को भेंट कर चुके थे. उनकी वर्तमान आय एक हजार रुपए वार्षिक से अधिक न थी. ठाकुर साहब के दो बेटे थे. बड़े का नाम श्रीकंठ सिंह था. उसने बहुत दिनों के परिश्रम और उद्योग के बाद बी. ए. की डिग्री प्राप्त की थी. अब एक दफ्तर में नौकर था. छोटा लड़का लालबिहारी सिंह दोहरे बदन का, सजीला जवान था. भरा हुआ मुखड़ा, चौड़ी छाती. भैंस का दो सेर ताजा दूध वह उठकर सवेरे पी जाता था.

श्रीकंठ सिंह की दशा बिलकुल विपरीत थी. इन नेत्रप्रिय गुणों को उन्होंने बी. ए.—इन्हीं दो अक्षरों—पर न्योछावर कर दिया था. इन दो अक्षरों ने उनके शरीर को निर्बल और चेहरे को कांतिहीन बना दिया था. इसीसे वैद्यक ग्रंथों पर उनका विशेष प्रेम था. आयुर्वेदिक औषधियों पर उनका अधिक विश्वास था. शाम-सवेरे उनके कमरे से प्रायः खरल की सुरीली कर्णमधुर ध्वनि सुनाई दिया करती थी. लाहौर और कलकत्ते के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी.

श्रीकंठ इस अंगरेजी डिग्री के अधिपति होने पर भी अंगरेजी सामाजिक प्रथाओं के विशेष प्रेमी न थे; बल्कि वह बहुधा बड़े जोर से उनकी निंदा और तिरस्कार किया करते थे. इसीसे गांव में उनका बड़ा सम्मान था. दशहरे के दिनों में वह बड़े उत्साह से रामलीला में सम्मिलित होते और स्वयं किसी न किसी पात्र का पार्ट लेते थे. गौरीपुर में रामलीला के वही जन्मदाता थे. प्राचीन हिंदू सभ्यता का गुणगान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था. सम्मिलित कुटुंब के तो वह एकमात्र उपासक थे. आजकल स्त्रियों को कुटुंब में मिल-जुलकर रहने की जो अरुचि होती है, उसे वह जाति और देश, दोनों के लिए हानिकारक समझते थे. यही कारण था कि गांव की ललनाएं उनकी निंदक थीं! कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी संकोच न करती थीं. स्वयं उनकी पत्नी को ही इस विषय में उनसे विरोध था. यह इसलिए नहीं कि उसे अपने सास-ससुर, देवर या जेठ आदि से घृणा थी; बल्कि उसका विचार था कि यदि बहुत कुछ सहने और तरह देने पर भी परिवार के साथ निर्वाह न हो सके, तो आये दिन की कलह से जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा अपनी खिचड़ी अलग पकायी जाये.

आनंदी एक बड़े उच्च कुल की लड़की थी. उसके बाप एक छोटी-सी रियासत के ताल्लुकेदार थे. विशाल-भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज, बहरी-शिकरे, झाड़-फानूस, आनरेरी मैजिस्ट्रेटी और ऋण, जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के भोग्य पदार्थ हैं, सभी यहां विद्यमान थे. नाम था भूपसिंह. बड़े उदार-चित्त और प्रतिभाशाली पुरुष थे; पर दुर्भाग्य से लड़का एक भी न था. सात लड़कियां हुईं और दैवयोग से सबकी सब जीवित रहीं.

पहली उमंग में तो उन्होंने तीन ब्याह दिल खोलकर किये; पर पंद्रह-बीस हजार रुपयों का कर्ज सिर पर हो गया, तो आंखें खुलीं, हाथ समेट लिया. आनंदी चौथी लड़की थी. वह अपनी सब बहनों से अधिक रूपवती और गुणवती थी. इससे ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे. सुंदर संतान को कदाचित उसके माता-पिता भी अधिक चाहते हैं. ठाकुर साहब बड़े धर्म-संकट में थे कि इसका विवाह कहां करें? न तो यही चाहते थे कि ऋण का बोझ बढ़े और न यही स्वीकार था कि उसे अपने को भाग्यहीन समझना पड़े, एक दिन श्रीकंठ उनके पास किसी चंदे का रुपया मांगने आये. भूपसिंह उनके स्वभाव पर रीझ गये और धूमधाम से श्रीकंठ सिंह का आनंदी के साथ ब्याह हो गया.

आनंदी अपने नये घर में आयी, तो यहां का रंग-ढंग कुछ और ही देखा. जिस टीम-टाम की उसे बचपन से ही आदत पड़ी हुई थी, वह यहां नाम-मात्र को भी न थी. हाथी-घोड़ों का तो कहना ही क्या, कोई सजी हुई सुंदर बहली तक न थी. रेशमी स्लीपर साथ लायी थी; पर यहां बाग कहां? मकान में खिड़कियां तक न थीं, न जमीन पर फर्श, न दीवार पर तस्वीरें. यह एक सीधा-सादा देहाती गृहस्थ का मकान था; किंतु आनंदी ने थोड़े ही दिनों में अपने को इस नयी अवस्था के ऐसा अनुकूल बना लिया, मानो उसने विलास के सामान कभी देखे ही न थे.

▣

एक दिन दोपहर के समय लालबिहारी सिंह दो चिड़िया लिये हुए आया और भावज से बोला—जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है. आनंदी भोजन बनाकर इसकी राह देख रही थी. अब वह नया व्यंजन बनाने बैठी. हांड़ी में देखा, तो घी पाव-भर से अधिक न था. बड़े घर की बेटी, किफायत क्या जाने! उसने सब घी मांस में डाल दिया. लालबिहारी खाने बैठा, तो दाल में घी न था, बोला—दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा?

आनंदी ने कहा—घी सब मांस में पड़ गया.

लालबिहारी जोर से बोला—अभी परसों घी आया है. इतने जल्द उठ गया?

आनंदी ने उत्तर दिया—आज तो कुल पाव-भर रहा होगा. वह सब मैंने मांस में डाल दिया!

जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य जरा-जरा सी बात पर तिनक जाता है. लालबिहारी को भावज की यह ढिठाई बहुत बुरी मालूम हुई, तिनककर बोला—मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो!

स्त्री गालियां सह लेती है, मार भी सह लेती है; पर मैके की निंदा उनसे नहीं सही जाती. आनंदी मुंह फेरकर बोली, हाथी मरा भी नौ लाख का. वहां इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं.

लालबिहारी जल गया, थाली उठाकर पटक दी, और बोला—जी चाहता है, जीभ पकड़कर खींच लूं.

आनंदी को भी क्रोध आ गया. मुंह लाल हो गया, बोली—वह होते तो आज इसका मजा चखाते.

अब अपढ़ उजड्ड ठाकुर से न रहा गया. उसकी स्त्री एक साधारण जमींदार की बेटी थी. जब जी चाहता, उस पर हाथ साफ कर लिया करता था. खड़ाऊं उठाकर आनंदी की ओर जोर से फेंकी और बोला—जिसके गुमान पर भूली हुई हो, उसे भी देखूंगा और तुम्हें भी!

आनंदी ने हाथ से खड़ाऊं रोकी, सिर बच गया; पर उंगली में बड़ी चोट आयी. क्रोध के मारे हवा से हिलते हुए पत्ते की भांति कांपती हुई अपने कमरे में आकर खड़ी हो गयी. स्त्री का बल और साहस, मान और मर्यादा पति तक है. उसे अपने पति के ही बल और पुरुषत्व का घमंड होता है. आनंदी खून का घूंट पीकर रह गयी.

▣

श्रीकंठ सिंह शनिवार को घर आया करते थे. वृहस्पति को यह घटना हुई थी. दो दिन तक आनंदी कोप-भवन में रही. न कुछ खाया, न पिया, उनकी बाट देखती रही. अंत में शनिवार को वह नियमानुकूल संध्या समय घर आये और बाहर बैठकर कुछ इधर-उधर की बातें, कुछ देशकाल संबंधी समाचार तथा कुछ नये मुकद्दमों आदि की चर्चा करने लगे. यह वार्तालाप दस बजे रात तक होता रहा. गांव के भद्र पुरुषों को इन बातों में ऐसा आनंद मिलता था कि खाने-पीने की भी सुधि न रहती थी. श्रीकंठ को पिंड छुड़ाना मुश्किल हो जाता था. ये दो-तीन घंटे आनंदी ने बड़े कष्ट से काटे! किसी तरह भोजन का समय आया. पंचायत उठी. एकांत हुआ, तो लालबिहारी ने कहा—भैया आप जरा भाभी को समझा दीजिएगा कि मुंह संभालकर बातचीत किया करें, नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जायेगा.

बेनीमाधव सिंह ने बेटे की ओर साक्षी दी—हां, बहू-बेटियों का यह स्वभाव अच्छा नहीं कि मर्द के मुंह लगें.

लालबिहारी—वह बड़े घर की बेटी हैं, तो हम भी कोई कुर्मी-कहार नहीं हैं. श्रीकंठ ने चिंतित स्वर से पूछा—आखिर बात क्या हुई?

लालबिहारी ने कहा—कुछ भी नहीं, यों ही आप ही उलझ पड़ीं. मैके के सामने हम लोगों को कुछ समझती ही नहीं.

श्रीकंठ खा-पीकर आनंदी के पास गये. वह भरी बैठी थी. यह हजरत भी कुछ तीखे थे. आनंदी ने पूछा—चित्त तो प्रसन्न है?

श्रीकंठ बोले—बहुत प्रसन्न है, पर तुमने आजकल घर में यह क्या उपद्रव मचा रखा है?

आनंदी की तेवरियों पर बल पड़ गये, झुंझलाहट के मारे बदन में ज्वाला-सी दहक उठी. बोली—जिसने तुमसे यह आग लगायी है, उसे पाऊं तो मुंह झुलस दूं.

श्रीकंठ—इतनी गरम क्यों होती हो, बात तो कहो.

आनंदी—क्या कहूं, यह मेरे भाग्य का फेर है! नहीं तो गंवार छोकरा, जिसको चपरासीगिरी करने का भी शऊर नहीं, मुझे खड़ाऊं से मारकर यों न अकड़ता.

श्रीकंठ—सब हाल साफ-साफ कहो, तो मालूम हो. मुझे तो कुछ पता नहीं.

आनंदी—परसों तुम्हारे लाड़ले भाई ने मुझसे मांस पकाने को कहा. घी हांड़ी में पाव-भर से अधिक न था. वह सब मैंने मांस में डाल दिया. जब खाने बैठा तो कहने लगा—दाल में घी क्यों नहीं है? बस, इसी पर मेरे मैके को बुरा-भला कहने लगा. मुझसे न रहा गया. मैंने कहा कि वहां इतना घी तो नाई-कहार खा जाते हैं, और किसी को जान भी नहीं पड़ता. बस, इतनी सी

बात पर इस अन्यायी ने मुझ पर खड़ाऊं फेंक मारी. यदि हाथ से न रोक लूं, तो सिर फट जाये. उसी से पूछो, मैंने जो कुछ कहा है, वह सच है या झूठ?

श्रीकंठ की आंखें लाल हो गयीं. बोले—यहां तक हो गया, इस छोकरे का यह साहस!

आनंदी स्त्रियों के स्वभावानुसार रोने लगी; क्योंकि आंसू उनकी पलकों पर रहते हैं. श्रीकंठ बड़े धैर्यवान् और शांत पुरुष थे. उन्हें कदाचित् ही कभी क्रोध आता था; पर स्त्रियों के आंसू पुरुष की क्रोधाग्नि भड़काने में तेल का काम देते हैं. रात भर करवटें बदलते रहे. उद्विग्नता के कारण पलक तक न झपकी. प्रातःकाल अपने बाप के पास जाकर बोले—दादा, अब इस घर में मेरा निबाह न होगा.

इस तरह की विद्रोहपूर्ण बातें कहने पर श्रीकंठ ने कितनी ही बार अपने कई मित्रों को आड़े हाथों लिया था; परंतु दुर्भाग्य, आज उन्हें स्वयं वे ही बातें अपने मुंह से कहनी पड़ीं. दूसरों को उपदेश देना भी कितना सहज है!

बेनीमाधव सिंह घबरा उठे और बोले—क्यों?

श्रीकंठ—इसलिए कि मुझे भी अपनी मान-प्रतिष्ठा का कुछ विचार है. आपके घर में अब अन्याय और हठ का प्रकोप हो रहा है. जिनको बड़ों का आदर-सम्मान करना चाहिए, वे उनके सिर चढ़ते हैं. मैं दूसरे का नोकर ठहरा, घर पर रहता नहीं. यहां मेरे पीछे स्त्रियों पर खड़ाऊं और जूतों की बौछारें होती हैं. कड़ी बात तक चिंता नहीं. किंतु यह कदापि नहीं हो सकता कि मेरे ऊपर लात-घूंसे पड़ें और मैं दम न मारूं.

बेनीमाधव सिंह कुछ जवाब न दे सके. श्रीकंठ सदैव उनका आदर करते थे. उनके ऐसे तेवर देखकर बूढ़ा ठाकुर अवाक् रह गया. केवल इतना ही बोला—बेटा, तुम बुद्धिमान होकर ऐसी बातें करते हो? स्त्रियां इसी तरह घर का नाश कर देती हैं. उनको बहुत सिर चढ़ाना अच्छा नहीं.

श्रीकंठ—इतना मैं जानता हूं, आपके आशीर्वाद से ऐसा मूर्ख नहीं हूं. आप स्वयं जानते हैं कि मेरे ही समझाने-बुझाने से, इसी गांव में कई घर संभल गये; पर जिस स्त्री की मान-प्रतिष्ठा का मैं ईश्वर के दरबार में उत्तरदाता हूं, उसके प्रति ऐसा घोर अन्याय और पशुवत् व्यवहार मुझे असह्य है. सच मानिए, मेरे लिए यही कुछ कम नहीं है कि लालबिहारी को कुछ दंड नहीं देता.

अब बेनीमाधव सिंह भी गरमाये. ऐसी बातें और न सुन सके. बोले—लालबिहारी तुम्हारा भाई है. उससे जब कभी भूल-चूक हो, उसके कान पकड़ो लेकिन . . . .

श्रीकंठ—लालबिहारी को मैं अब अपना भाई नहीं समझता.

बेनीमाधव सिंह—स्त्री के पीछे?

श्रीकंठ—जी नहीं, उसकी क्रूरता और अविवेक के कारण.

दोनों कुछ देर चुप रहे. ठाकुर साहब लड़के का क्रोध शांत करना चाहते थे, लेकिन यह नहीं स्वीकार करना चाहते थे कि लालबिहारी ने कोई अनुचित काम किया है. इसी बीच में गांव के और कई सज्जन हुक्के-चिलम के बहाने वहां आ बैठे. कई स्त्रियों ने जब यह सुना कि श्रीकंठ पत्नी के पीछे पिता से लड़ने को तैयार हैं, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ! दोनों पक्षों की मधुर वाणियां सुनने के लिए उनकी आत्माएं तलमलाने लगीं. गांव में

कुछ ऐसे कुटिल मनुष्य भी थे, जो इस कुल की नीतिपूर्ण गति पर मन ही मन जलते थे. वे कहा करते थे—श्रीकंठ अपने बाप से दबता है, इसीलिए वह दब्बू है. उसने विद्या पढ़ी इसलिए वह किताबों का कीड़ा है. बेनीमाधव सिंह उसकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते, यह उनकी मूर्खता है. इन महानुभावों की शुभकामनाएं आज पूरी होती दिखाई दीं. कोई हुक्का पीने के बहाने और कोई लगान की रसीद दिखाने आकर बैठ गया. बेनीमाधव सिंह पुराने आदमी थे. इन भावों को ताड़ गये. उन्होंने निश्चय किया, चाहे कुछ ही क्यों न हो, इन द्रोहियों को ताली बजाने का अवसर न दूंगा. कोमल शब्दों में बोले—बेटा, मैं तुमसे बाहर नहीं हूं. जो जी चाहे करो, लड़के से अपराध हो गया.

इलाहाबाद का अनुभव-रहित झल्लाया हुआ ग्रेजुएट इस बात को न समझ सका. बोला—लालबिहारी के साथ अब इस घर में नहीं रह सकता.

बेनीमाधव—बेटा, बुद्धिमान लोग मूर्खों की बात पर, ध्यान नहीं देते. वह बेसमझ लड़का है. उससे जो कुछ भूल हुई, उसे तुम बड़े होकर क्षमा करो.

श्रीकंठ—उसकी इस दुष्टता को मैं कदापि नहीं सह सकता. या तो वही घर में रहेगा, या मैं ही. आपको यदि वह अधिक प्यारा है, तो मुझे विदा कीजिए, मैं अपना भार आप संभाल लूंगा.

लालबिहारी सिंह दरवाजे की चौखट पर चुपचाप खड़ा बड़े भाई की बातें सुन रहा था. वह उनका बहुत आदर करता था. उसे कभी इतना साहस न हुआ था कि श्रीकंठ के सामने चारपाई पर बैठ जाये, हुक्का पी ले या पान खा ले. बाप का भी वह इतना मान न करता था. श्रीकंठ का भी उस पर हार्दिक स्नेह था, अपने होश में उन्होंने कभी उसे घुड़का तक न था. जब वह इलाहाबाद से आते, तो उसके लिए कोई न कोई वस्तु अवश्य लाते. मुगदर की जोड़ी उन्होंने बनवा दी थी. ऐसे भाई के मुंह से आज ऐसी हृदय-विदारक बात सुनकर लालबिहारी को बड़ी ग्लानि हुई. वह फूट-फूटकर रोने लगा. इसमें संदेह नहीं कि अपने किये पर पछता रहा था. भाई के आने से एक दिन पहले से उसकी छाती धड़कती थी कि देखूं भैया क्या कहते हैं. मैं उनके सम्मुख कैसे जाऊंगा, उनसे कैसे बोलूंगा, मेरी आंखें उनके सामने कैसे उठेंगी. उसने उन्हें निर्दयता की मूर्ति बने हुए पाया. वह मूर्ख था. परंतु उसका मन कहता था कि भैया मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं. यदि श्रीकंठ उसे अकेले में बुलाकर दो-चार कड़ी बातें कह लेते, इतना ही नहीं, दो-चार तमा‍ंचे भी लगा देते तो कदाचित् उसे इतना दुःख न होता; पर भाई का यह कहना लालबिहारी से सहा न गया. रोता हुआ घर आया. कोठरी में जाकर कपड़े पहने, आंखें पोंछी, जिसमें कोई यह न समझे कि रोता था! आनंदी के द्वार पर आकर बोला—भाभी, भैया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे. अब वह मेरा मुंह नहीं देखना चाहते इसलिए अब मैं जाता हूं. उन्हें फिर मुंह न दिखाऊंगा! मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना.

यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर आया.

▣

जिस समय लालबिहारी सिंह सिर झुकाये आनंदी के द्वार पर खड़ा था, उसी समय श्रीकंठ सिंह भी आंखें लाल किये बाहर से आये. भाई को खड़ा देखा तो घृणा से आंखें फेर लीं और कतराकर निकल गये. मानो उसकी परछाईं से दूर भागते हों.

आनंदी ने लालबिहारी की शिकायत तो की थी, लेकिन अब मन में पछता रही थी. वह स्वभाव से ही दयावती थी, उसे इसका तनिक भी ध्यान न था कि बात इतनी बढ़ जायेगी. वह मन में अपने पति पर झुंझला रही थी कि वह इतने गरम क्यों होते हैं. उस पर यह भय भी लगा हुआ था कि कहीं मुझसे इलाहाबाद चलने को कहें तो कैसे क्या करूंगी. इस बीच में जब उसने लालबिहारी को दरवाज पर खड़ यह कहते सुना कि अब मैं जाता हूं, मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, क्षमा करना, तो उसका रहा-सहा क्रोध भी पानी हो गया. वह रोने लगी. मन का मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है.

श्रीकंठ को देखकर आनंदी ने कहा—लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं.

श्रीकंठ—तो मैं क्या करूं?

आनंदी—भीतर बुला लो. मेरी जीभ में आग लगे! मैंने कहां से यह झगड़ा उठाया.

श्रीकंठ—मैं न बुलाऊंगा.

आनंदी—पछताओगे. उन्हें बहुत ग्लानि हो गयी है, ऐसा न हो कहीं चल दें.

श्रीकंठ न उठे. इतने में लालबिहारी ने फिर कहा—भाभी, भैया से मेरा प्रणाम कह दो. वह मेरा मुंह नहीं देखना चाहते, इसलिए मैं अपना मुंह उन्हें न दिखाऊंगा.

लालबिहारी इतना कहकर लौट पड़ा. और शीघ्रता से दरवाजे की ओर बढ़ा. अंत में आनंदी कमरे से निकली और उसका हाथ पकड़ लिया. लालबिहारी ने पीछे फिरकर देखा और आंखों में आंसू भरे बोला—मुझे जाने दो.

आनंदी—कहां जाते हो?

लालबिहारी—जहां कोई मेरा मुंह न देख.

आनंदी—मैं न जाने दूंगी.

लालबिहारी—मैं तुम लोगों के साथ रहने योग्य नहीं हूं.

आनंदी—तुम्हें मेरी सौगंध, अब एक पग भी आगे न बढ़ना.

लालबिहारी—जब तक मुझे यह न मालूम हो जाये कि भैया का मन साफ हो गया, मैं इस घर में कदापि न रहूंगा.

आनंदी—मैं ईश्वर को साक्षी देकर कहती हूं कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है.

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला. उन्होंने बाहर आकर लालबिहारी को गले लगा लिया. दोनों भाई खूब फूट-फूटकर रोये.

लालबिहारी ने सिसकते हुए कहा—भैया, अब कभी मत कहना कि तुम्हारा मुंह न देखूंगा, इसके सिवा आप जो दंड देंगे, मैं सहर्ष स्वीकार करूंगा.

श्रीकंठ ने कांपते हुए स्वर से कहा—लल्लू! इन बातों को बिलकुल भूल जाओ. ईश्वर चाहेगा, तो ऐसा अवसर न आवेगा.

बेनीमाधव सिंह बाहर से आ रहे थे. दोनों भाइयों को गले मिलते देख, आनंद से पुलकित हो गये. बोल उठे—बड़े घर की बेटियां ऐसी ही होती हैं! बिगड़ता काम बना लेती हैं. गांव में जिसने यह वृत्तांत सुना, उसीने इन शब्दों में आनंदी की उदारता को सराहा—बड़े घर की बेटियां ऐसी ही होती हैं. □

प्रेमचंद की हिजरत

● काजी अब्दुल सत्तार

प्रेमचंद का पहला लफ्ज उर्दू में छपा और आखिरी हिंदी में. एक भाषा से दूसरी भाषा तक के प्रवास की यह कहानी इतिहास की क्रूरता की कहानी है. यानी उर्दू भाषा काव्य की भाषा है. इस भाषा के बड़े से बड़े साहित्यकार को साहित्य की दुनिया में दाखिल होने के लिए शायरी का वीसा लेना पड़ा है. पहले बड़े गद्यकार मुल्ला वज्ही से लेकर नियाज फतहपुरी तक तमाम साहित्यकार या तो शायर थे या शायर होने की हसरत रखते थे. मीर अम्मन, रजबअली बेग सरूर, मुहम्मद हुसेन आजाद, अल्लामा शिबली, मौलाना हाली, मिर्जा रुसवा, पंडित रतननाथ सरशार, सज्जाद हैदर यल्दरम और सुल्तान हैदर जोश के उपनाम मेरे दावे की पुष्टि करते हैं. सिर्फ यही नहीं, सर सैयद जैसी हस्ती को भी उपनाम 'आसी' का दुमछल्ला लगाना पड़ा. शासक अपने दरबारों को साहित्यिक आदर देने के लिए मुशायरे कराते, पीरो-फकीर अपनी खानकाहों में कव्वालों की जबान से शायरों का कलाम सुनकर हाल से बेहाल होना पसंद करते और तवायफ मुशायरे की मशहूर गजल में अपने गले का नूर और घुंघरू की छनक टांककर सुननेवालों की मस्ती से अपना उल्लू सीधा करती. चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते पांच शेर की एक गजल कभी किसी मुशायरे में पढ़ी और सुबह होते-होते मशहूर हो लिये. इसके बरखिलाफ गद्यकार छापेखाने का मोहताज रहा जो उर्दू की राजधानी दिल्ली में देर से आया. खैर, किसी ने घुटने तोड़कर, लहू-पसीना करके एक किताब लिखी, जान जोखिम में डालकर छाप भी ली, लोगों तक पहुंच भी गयी, लोगों ने पढ़ भी ली, पसंद भी कर ली, तो भी इस पसंद की खबर किताब लिखने वाले को किताब लिखने के बारह बरस बाद नसीब हो सकी.

इसलिए भी शायरी उर्दू अदब पर छायी रही.

उर्दू शहरी जबान है. आज नहीं सन् 1880 में हिंदुस्तान के बड़े-बड़े शहर उर्दू के माशूक रहे या उर्दू से परिचित रहे हैं. दिल्ली हो कि लखनऊ, लाहौर हो या हैदराबाद, रामपुर हो या अजीमाबाद—सब उर्दू बोलते हैं. लेकिन इन शहरों से दस मील अंदर चले जायें तो उर्दू जबान के बेटे अपनी तमाम रोजमर्रा की जरूरत ब्रज, अवधी या पंजाबी बोलकर पूरी करते मिलते हैं. यानी उर्दू सभ्य और शहरी जीवन की जबान रही है. उर्दू चांदी की एक नहर थी जिसके किनारों पर धोबी अपने कपड़े नहीं धो सके, माहीगीर मछलियां नहीं पकड़ सके, मांझी नौका नहीं खे सके, छप्परों और चौपालों और उसारों और चहबचों और नांदों से उठे हुए पसीने में नहाये मैले गंदे इंसान, भूसे की घास और गोबर की बास के साथ उसके किनारों पर नहीं फटक सके. यहां सिर्फ शीशे और हाथी दांत के शिकारे चलते हैं, जिनमें सूरज के बेटे और चांद की बेटियां बैठती हैं, जिनके कपड़े चांदनी की तरह नाजुक और बोल फूल की तरह कोमल हैं, जो दुःख के नाम पर खोयी सल्तनत और बिछुड़े हुए महबूब के अलावा कुछ नहीं जानते.

प्रेमचंद से दो-डेढ़ सौ साल पहले एक प्रेमचंद पैदा हुआ था जो शायर था और जिसका उपनाम नजीर था. नजीर ने चाहा था कि इस नहर के किनारों को तोड़ दे और शहरों की शहरपनाहों के बाहर ठाठें मारती सच्ची, खरी और स्वच्छंद जिंदगी से इस नहर को सींच दे, उसे दरिया बना दे, समंदर बना दे, तो उर्दू के झिलमिलाते, जगमगाते उस्तादों और आलोचकों ने नजीर को सामान्य और उसकी शायरी को बाजारी कहकर उसे मसनद से उठा दिया. बाजारी 'सामान्यता' के मानी 'नंगपन' नहीं है कि नजीर से पहले के कहीं ज्यादा, सचमुच नंगे शायर उर्दू की आंख का सुरमा बने हुए थे. सच यह है कि नजीर ने हिंदुस्तान के आम आदमी को जो शहर के बजाय गांव का वासी है, हिंदू भी है मुसलमान भी है, किसान भी है मजदूर भी है और पेशेवर भी है, उसको उसी के सुख-दुख और आशा-निराशा के साथ पेश करने की गुस्ताखी की थी और सजा पायी थी. वह जो मुगल बादशाहों की छत्रछाया में सिसकती हुई सभ्यता के गायक थे, अगर आम इंसानों के दिलों की धड़कन हो जाते, सोने-चांदी के पिंजरों में बंद वे बुलबुल खेतों-खलिहानों, पनघटों और अमराइयों की कोयल-पपीहे बन जाते, ईरान और तूरान और अरब से उम्मीदों के नाते तोड़कर हिंदुस्तान की सांवरी मिट्टी के सोंधेपन पर आशिक होने की क्षमता पैदा कर लेते, कबीर और नानक, रहीम और जायसी को मीर और गालिब और अनीस और इकबाल की पंक्ति में बिठा लेते तो आज उर्दू को अपने घर में ही बेघर होकर न रहना पड़ता.

उर्दू की इस विरासत की कोख से प्रेमचंद पैदा हुए. बचपन में छुप-छुपकर दास्तानें सुनते रहे, सौतेली मां की मार खाते रहे और अनजाने में कहानी कहने का हुनर सीखते रहे. फन (कला) की आंख खुली तो उस किसान को देखा जो जमीन का मालिक होते हुए भी जमीन का मालिक नहीं है, जमीन पर उसे बस इतना हक है कि उसे अपने पसीने से सींचे, आंसुओं से बोये और जब जमींदार के कारिंदों और जानवरों से नुची-खुची फसल काटे और बनियों के, फाकों की पीठ पर लदे हुए कर्ज के सूद-दर-सूद का भुगतान करके, लगान का दोजख पाट कर गठरी भर अनाज उठा ले जाये और आनेवाले फाकों का इंतजार करने और

'प्रेमचंद ने कहानी को उड़न-खटोले से उतारकर उसारे पर बिठा दिया. ये कड़ुवे घूंट भी हलक से उतार लिये जाते, अगर प्रेमचंद ने किसान मर्दों और किसान औरतों को किसान शहजादों और किसान शहजादियों की तरह पेश कर दिया होता.'

जमींदार की बेगार भरने के काबिल हो सके, तो प्रेमचंद पर जो गुजरी होगी उसका अंदाजा हम कर सकते हैं.

मगर बीसवीं सदी की तीसरी दहाई पर नजर डालिए तो सज्जाद हैदर यलदरम मिलते हैं जो तुर्की के इश्क में रमे हैं, सुल्तान हैदर जोश नजर आते हैं जो खालिस रूमानियत के हामी हैं. यूरोप की रूमानियत मुहब्बत के साथ बगावत के नशे में भी मदहोश रही है, लेकिन उर्दू साहित्य की रूमानियत अक्सर हुस्नपरस्ती की दीवारों में बंद है. नियाज फतहपुरी की कलम हिंदुस्तान की नहीं, ग्रीक मायथालॉजी की देवियों के हुस्न के बयान में खोया हुआ है. और इन नामों के अलावा जो नाम हैं, वे न इनसे दूर हैं और न इनसे भिन्न.

उनकी जेबें खाली हैं

लेकिन यादें हैं कि बादशाहों और सौदागरों की हवसनाक मुहब्बत की कहानियों से भरी पड़ी हैं, जो जबान के तेवरों पर जान छिड़कते हैं और लफ्जों के उलट-फेर पर आहें भरते हैं, जिनको शराब नसीब नहीं लेकिन नशे के जिक्र पर सर धुनते हैं, ये वे हैं जो दिन में एक पहर पीर के हाथ चूमते हैं, दूसरे वक्त तवायफ का मुजरा देखते हैं और तीसरे वक्त मुशायरे में मसनद से लगकर या गजल सुनाते हैं या सुनी हुई गजल पर तारीफ के दरिया बहाते हैं, ये वे हैं जो दिन में ख्वाब देखते हैं. यही वे हैं जिनसे प्रेमचंद की कहानियों का वास्ता पड़ा था.

हरचंद की प्रेमचंद के कान बचपन में सुनी हुई दास्तानों की छनाछन और घनगरज से गूंज रहे थे, अनमोल रतन विक्रमादित्य का किस्सा और रानी सारंधा और इन जैसी दूसरी कहानियां इसी गूंज पर चढ़ाये हुए श्रद्धा-सुमन हैं, लेकिन उनके अंदर छिपे हुए आलोचक ने, कि बड़े साहित्यकार के अंदर उसका आलोचक छिपा होता है, आहिस्ता-आहिस्ता अपने कृषिप्रधान देश के सबसे बड़े सामाजिक यथार्थ—यानी किसान को अपनी लेखनी का केंद्र बना लिया.

प्रेमचंद ने कहानी को उड़न-खटोले से उतारकर उसारे पर बिठा दिया. ये कड़ुवे घूंट भी हलक से उतार लिये जाते, अगर प्रेमचंद ने किसान मर्दों और किसान औरतों को किसान शहजादों और किसान शहजादियों की तरह पेश कर दिया होता.

लेकिन प्रेमचंद आर्टिस्ट थे. उनको मालूम था कि खूबसूरत जबान वह होती है जो विषय की भूमि से अखुवे की तरह फूटती है. इसीलिए उन्होंने बनी-बनायी, सजी-सजायी पोशाकों से परहेज किया जिन्हें चांद-सूरज की औलाद पहनती थी और अपनी मूरतों के लिए आग और पानी, धूप और हवा की तरह सस्ते कपड़े बना लिये, जिनमें उनकी मूरतें फूट निकलीं. प्रेमचंद की जबान आसान नहीं है जैसा कि आमतौर पर कहा जाता है कि अगर प्रेमचंद की जबान आसान है तो फिर बच्चों के साहित्य की जबान के लिए कौन-सा लफ्ज इस्तेमाल किया जायेगा. प्रेमचंद की जबान में वह सब कुछ है जो किसी साहित्यकार की जबान में हो सकता है. उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यंग्य, मुहावरा, रोजमर्रा—हर जेवर मौजूद है. लेकिन ये जेवर चांदी के हैं, अनगढ़ हैं, भद्दे हैं और ठठेरों के बराबर लगी हुई किसी भी दूकान से खरीदे जा सकते हैं, यानी प्रेमचंद ने कथा साहित्य का विषय ही नहीं उसकी शब्दावली भी बदल डाली. यह उनकी महानता का दूसरा प्रमाण है. इसलिए भी प्रेमचंद के उर्दू पाठक और आलोचक उनकी महान थाती को वह आदर न दे सके जिसके वह हकदार थे. प्रेमचंद महान कलाकार थे लेकिन विद्वान नहीं थे. अगर वह बड़े स्कॉलर होते और उनमें यह क्षमता होती कि अपनी हथेली पर उर्दू साहित्य का काफिला गुजरते देख सकते और नजीर अकबराबादी के अंजाम में नजर रख सकते तो उन्हें अपनी नाकदरी पर इतना दुःख न होता, ऐसा दुःख न होता जिसकी झोंक में उन्होंने वह सब कुछ लिख डाला जिसका जिक्र बार-बार होता है. फिर भी साहित्य के एक विद्यार्थी की हैसियत से मेरा खयाल है कि प्रेमचंद के फैसले पर फैसला करने से पहले हमारा फर्ज है कि एक दर्दनाक सच्चाई को उससे ज्यादा दर्दनाक केनवॅस में रखकर नतीजे तक पहुंचने की कोशिश करनी चाहिए. □

रूपांतर : लक्ष्मीचंद गुप्त

झोंक दूं सरजू में

एक बार मैं बस्ती से इलाहाबाद जा रही थी. सरजू पार करना था. स्टीमर में हम लोग बैठे थे. इतने में बीस-पच्चीस वर्ष का एक नवयुवक आया. वह जैसे-जैसे मेरी तरफ बढ़ रहा था, वैसे-वैसे मैं आपके पैर के पास खिसकती गयी. फिर पैर दबाकर बोली, "आप इस बदमाश को देख नहीं रहे!"

आप उसकी गर्दन पकड़कर दूर तक ले गये. बोले, "सरजू में झोंक दूं!"

युवक बोला, "मैंने क्या गुनाह किया है? मैं तो खड़ा था."

"खड़े होने की वहां गुंजाइश थी, जहां तुम खड़े थे. स्त्रियों के सिर पर खड़े होते हो! अगर दुबारा जबान निकाली तो अभी झोंक दूंगा सरजू में."

उन्हें अत्यंत क्रोध में जान हाथ पकड़कर खींच लायी. □

● शिवरानी देवी

प्रेमचंद और हमारा बौनापन

• गोविंद मिश्र

हिंदी कहानी और उपन्यास की यात्रा प्रेमचंद से प्रारंभ होकर प्रायः प्रेमचंद पर ही समाप्त हो जाती है. उनके बाद क्या सचमुच उन जैसा कोई व्यक्तित्व नहीं उभरा? जबकि कहानी और उपन्यास पहले से कहीं अधिक बहुआयामी हुए हैं और आज हिंदी कहानी का दर्जा विश्व कहानी साहित्य में किसी से कम नहीं. फिर क्या हम प्रेमचंद के सामने स्वयं को बौना महसूस करते हैं?

प्रेमचंद की बात हमेशा ही की जाती है. . . .साहित्यकारों के तबके में भी की जाती है. पर यहां जो बातें जिस तरह से की जाती हैं, उनसे प्रेमचंद के बारे में कम, बात करने वालों के बारे में ही ज्यादा जानने का मौका मिलता है. शायद बात करने वालों का मकसद भी यही होता है. किसी पूर्ववर्ती साहित्यकार की व्याख्या करने में एक पीढ़ी अपने बौनेपन को किस कदर जाहिर करती चलती है, इसका मजेदार उदाहरण प्रेमचंद पर की गयी ये बातें हैं. इन बातों ने ही धीरे-धीरे प्रेमचंद के बारे बड़ी सपाट-सी धारणाओं-मान्यताओं को जन्म दिया है, मसलन—प्रेमचंद ने अपना अधिकांश जीवन चना चबाते बिताया, वे शोषित वर्ग के पक्षधर थे और शोषक वर्ग के खिलाफ संघर्ष में विश्वास करते थे. . . वे लेखक की भूमिका समाज को बदल कर रख देने में मानते थे वगैरह वगैरह . . . .तथाकथित जनवादी लेखकों ने ही क्या सभी ने प्रेमचंद को अपने फायदे के लिए अपने-अपने ढंग से तोड़ा-मरोड़ा . . . .वह चाहे नयी कहानी का आंदोलन हो, साठ के बाद की कहानी हो. . .या समानांतर कहानी. हमने समुद्र को समेटने की कोशिश की, लेकिन भूल गये कि उसे पीने के लिए अगस्त्य की तपस्या भी चाहिए. हमारे छोटे-छोटे घड़े कितना भरेंगे? हमने प्रेमचंद को अपने-अपने घड़ों में पेश किया, प्रेमचंद का क्या हुआ वह छोड़ें भी, तो हमारा भी क्या हुआ?

वे बातें, जो भीतर से उतनी ही अहं हैं जितनी बाहर से मासूम, उन्हें दरकिनार किया जाता रहा. उदाहरणार्थ—प्रेमचंद कभी किसी वाद से नहीं जुड़े, वे कभी असाधारण आर्थिक कष्टों में नहीं रहे और जैसे रहे, उसकी ढपली उन्होंने कभी नहीं बजायी. . . .उसे गौरव की बात तो कभी नहीं माना. . .अपने घर का सबसे अच्छा कमरा उनके लेखन के लिए था. . .भले ही वह जमीन पर बैठकर लिखते थे. . .आदि आदि. हम में से कुछ आज दूसरे लेखकों की सुख-सुविधाएं गिनाकर ही उनके लेखन पर प्रश्न चिह्न लगा देते हैं. . .तब इत्मीनान से भूल जाते हैं कि ताल्स्तोय स्वयं किस रईसाना अंदाज से रहते थे. शायद यह भी बहुतों को न मालूम हो कि प्रेमचंद ने अपनी लड़की का ब्याह बुंदेलखंड के एक नंबरदार से किया था जिसमें उन्होंने एक खासी रकम खर्च की थी. मैं इसे लेखकीय गरिमा के अनुकूल ही मानता हूं, क्योंकि इसके पीछे प्रेमचंद के लेखक का स्वाभाविक स्वत्व ही रहा होगा. प्रेमचंद की पत्नी ने राजनैतिक आंदोलनों में भाग लिया था, शायद जेल भी गयी थीं लेकिन प्रेमचंद दूर ही रहे. . .मानते थे कि लेखक का काम लिखना है (राजनीति में उतरने की भूल आगे रेणु ने भी की) लेखन के क्षेत्र में भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेमचंद ने फलां कहानी इसलिए लिखी कि वह फलां तरह के आंदोलन की प्रेरणा बनेगी. . . बल्कि उल्टा ही हुआ—उन्होंने जो देखा उसे लिखा. विद्रोही मुद्रा धारण कर वे शहीद नहीं बनना चाहते थे. . .यह तो 'सोजेवतन' के प्रसंग से ही जाहिर है. 'सोजेवतन' की कुछ कहानियों पर बर्तानिया सरकार ने आपत्ति उठायी थी. इस संबंध में प्रेमचंद का 1 दिसंबर 1938 का श्री जैनेंद्र कुमार के लिए पत्र उद्धरित किया जा सकता है—

"सरस्वती प्रस' और 'जागरण' से 26-10-38 को 'उसका अंत' नामक कहानी के दंड में दो हजार की जमानत मांगी. बहुत परेशान हुआ. भागा हुआ लखनऊ पहुंचा. वहां चीफ सेक्रेटरी से मिलकर कहानी का आशय समझाया. और भी अपनी लायल्टी के प्रमाण दिये. अब आशा है जमानत मनसूख (रद्द) हो जायेगी. जरा-जरा-सी बात में गर्दन पर छुरी चल जाती है (प्रेमचंद के खुतूत)

प्रेमचंद : 1907

जो अपने विद्रोहात्मक तेवर को साबित करने के लिए प्रेमचंद की एक खास तस्वीर गढ़ना चाहते हैं, उन्हें इन सब बातों से धक्का लगेगा. उन्हें तो यह भी असुविधाजनक लगता है कि प्रेमचंद 'सब डिप्टी इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल्स' भी रहे थे. . . .एक सरकारी नौकर! लेकिन मुझे इन सबमें प्रेमचंद का बड़प्पन ही दिखाई देता है. . .अगर वे शहीदाना मुद्रा अख्तियार कर भिड़ जाते तो हमें उनके कितने लेखन से वंचित रहना पड़ता. . . .इसका अंदाजा लगाया जा सकता है. वे भी ज्यादा से ज्यादा क्या कर लेते. . .स्वतंत्रता संग्राम के एक और सिपाही बन जाते. लेखक जो करता है उसका असर उसके व्यक्तित्व पर बेशक पड़ता है और फिर वह उसके लेखन पर असर डालता है. . .लेकिन अपनी बड़ी दृष्टि के चलते छोटी-छोटी चीजों से न उलझना भी तो एक व्यक्ति का तरीका हो सकता है.

मुझे इस तरह की और भी ढेरों चीजों में एक ही बात दिखाई देती है. . . वह यह कि सबसे पहले प्रेमचंद की प्रतिबद्धता लेखन से थी. अगर ऐसा न होता तो प्रेमचंद इतना ढेर सारा न लिख सके होते. (रचनाओं की गिनती तो की ही जाती है. . . कहते हैं उनकी रचनाओं में करीब छः हजार चरित्र आये हैं) इस विशाल संपदा को वादी लेखक-आलोचक गरीबी, गांव या संघर्षगाथा तक सीमित करके पेश किया करते हैं. वे चाहते हैं कि हम यह भी भूल जायें कि प्रेमचंद-साहित्य हमें सामाजिक विसंगतियों, और समसामयिक इतिहास में भी ले जाता है. . . करीब-करीब हर कहानी में प्रेमचंद उन चिरंतन मानवीय मूल्यों को उठाते हैं जो हमारी संस्कृति की धरोहर हैं. . .कहानी चाहे 'क्षमा' हो, 'बड़े घर की बेटी' हो या कि 'प्रेम का उदय' . . .प्रेमचंद का सरोकार मूल्यों से ही है. यही है जो प्रेमचंद के लेखन को जीवित रखे है, रखेगा. प्रेमचंद जहां भी हमें बदलाव की तरफ ले जाते हैं या जहां उनके चरित्रों में बदलाव आता है. . . .तो वह संघर्ष के रास्ते नहीं हृदय-परिवर्तन के रास्ते आता है. . .वह चाहे 'जुलूस' का बीरबल सिंह हो या 'प्रेम का उदय' की बंटी. स्वयं को होम कर देना . . . .वेदना में पककर बेहतर इंसान निकल आना . . . .यह भी प्रेमचंद में कई बार आता है. . .यहां तक कि कभी-कभी वे शरद के नजदीक भी पहुंच जाते हैं. (हालांकि वह शरद जसे लेखन के बहुत हिमायती नहीं थे)—'एक्ट्रेस' की तारा 'लैला' की लैला. . .जैसे अनेक उदाहरण मिल जायेंगे. संघर्ष जैसी चीजों के बजाय प्रेमचंद का असली सरोकार मनुष्य से था. साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता का पक्षधर होते हुए भी वे साहित्य में रसानुभूति को महत्व देते हैं. कहते हैं—

"मनुष्य जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है. वह खुद अपनी समझ में नहीं आता. किसी न किसी रूप में वह अपनी आलोचना किया करता है—अपने ही मनोरहस्य खोला करता है. मानव संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे. आध्यात्म और दर्शन की भांति साहित्य भी इसी खोज में लगा हुआ है. अंतर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके इसे आनंदप्रद बना देता है. . ."

'हम प्रेमचंद को छोटा करते चले गये. . . साहित्य और जिंदगी को भी छोटा करने की कोशिश की. लेकिन ये सब तो खैर क्या छोटे होंगे . . . हमीं छोटे हो गये.'

मनुष्य और साहित्य पर यह समग्र दृष्टि—प्रेमचंद के सादा अंदाजेबयां में—जिसमें मनुष्य को उसके संपूर्ण में देखना था. . .उसे वर्गों में बांटकर नहीं, उसके इस या उस पक्ष को कमो-बेश महत्ता देकर नहीं.वर्गों की बात. . .तो उच्च वर्ग के पात्र प्रेमचंद की लेखकीय सहानुभूति से सिर्फ इसलिए वंचित नहीं रहते कि वे उच्च वर्ग के हैं—

"आनंदी एक बड़े उच्चकुल की लड़की थी. उनके बाप एक छोटी-सी रियासत के ताल्लुकेदार थे. विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज, बहरी-शिकरे झाड़फानूस, ऑनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण (यह तत्व भी प्रेमचंद देखना न भूले) जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के योग्य पदार्थ हैं, सभी यहां विद्यमान थे. नाम था भूपसिंह. बड़े उदारचित्त और प्रतिभाशाली पुरुष थे. . ."

(बड़े घर की बेटी)

आदमी. . .समाज की इकाई के रूप में. . .या कि एक व्यक्ति का मन. . .ये भेद भी प्रेमचंद नहीं करते दिखते. बाहर की दुनिया पर कहानियां लिखते हुए भी वे मन की दुनिया में हमेशा सरक जाते हैं. उन्होंने कहा भी—**"सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो. . ." . . . "वर्तमान आख्यायिका, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है. . ."**

इस समग्र दृष्टि को छिन्न-भिन्न करने का काम हिंदी कथा साहित्य के इतिहास में तबसे शुरू हुआ जब लेखकों ने अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने का आधार अपने लेखन में नहीं, अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों को उखाड़ने में ढूंढना शुरू किया. नयी कहानी के कतिपय यशलोलुप लेखकों ने जैनेंद्र और अज्ञेय को निशाना बनाया (जबकि प्रेमचंद के समय में ही प्रसाद और उनके बाद जैनेंद्र. . .एकदम अलग-अलग तरह की कहानियां लिखते थे) इसे साहित्यिक

जामा पहनाने के लिए प्रेमचंद की दुहाई तो दी ही गयी, उनके लेखन का एक तत्व निकालकर उसे ही सब कुछ करके पेश किया जाने लगा—सामाजिक यथार्थ बनाम वैयक्तिक यथार्थ (जबकि प्रेमचंद के यहां भी वैयक्तिक प्रसंगों पर कहानियां हैं, गो कि कम—उदाहरण के लिए 'मुफ्त का यश' जो उन्होंने न केवल 'मैं' में लिखी है, बल्कि उसका 'मैं' उपन्यासकार है) नयी कहानी के बाद से जैसे यह एक सिलसिला ही बन गया कि प्रेमचंद को तोड़-मरोड़कर एक अंश निकालो और उसी को साहित्य के 'सर्वस्व' की तरह प्रचारित करो. प्रेमचंद ने कहा था कि कहानी में कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है. . . तो अनुभूतियों से व्यक्तिगत अनुभव और उससे भी नीचे उतरकर 'भोगा हुआ यथार्थ' लेकर साठ के बाद की कहानी आ गयी. हालांकि इन कहानीकारों ने उस ढंग से खुद को प्रेमचंद से नहीं जोड़ा जैसे नयी कहानी के आंदोलनकारियों ने किया था. मार्क्सवादियों को तो प्रेमचंद में खूब मसाला मिल गया—निम्न वर्ग. . . किसान. . .गांव, गरीबी. इन पक्षों को उजागर करते समय एक मोटी-सी यह बात भी भुला दी गयी कि आखिर लेखक वही तो लिखेगा जो उसकी अनुभूतियों का दायरा होगा. प्रेमचंद ने तो फिर भी अपने इस दायरे के बाहर की कहानियां लिखीं ('एक्ट्रेस', 'लैला' जैसी भी). प्रेम उस मायने में प्रेमचंद के सादे व्यक्तित्व की बुनावट में नहीं था, इसलिए विशुद्ध प्रेम-कहानियां प्रेमचंद के यहां न हों, लेकिन उनके लेखन में प्रेम बराबर मौजूद है. . .बेशक सिर्फ उस रूप में जिसे समाज की मान्यता प्राप्त है. ∴ यह इसलिए नहीं कि प्रेम प्रेमचंद की मान्यताओं से बाहर है, सिर्फ इसलिए कि उनकी अनुभूति के बाहर है. प्रेमचंद के साहित्य पर खूंटे गाड़ने का काम आज भी

'आज का नजारा बेजोड़ है. नौजवान साहित्यकार टेक ऑफ ही नहीं कर पाता . . . उसके पहले ही किसी पार्टी के आगे घुटने टेक देता है. साहित्य के बजाय पार्टी की सेवा में अपनी प्रतिभा गलाता है.'

दबस्तूर जारी है. . .तथाकथित जनवादी लेखक या आठवें दशक के कुछ लेखक तो यही मानते हैं कि शोषक-शोषित, बड़े-छोटे, समृद्ध-संघर्षरत के वर्गों में ही समाज को देखा जाये, हर कहानी में यही दो खेमें साफ-साफ हों, हर चीज इससे प्रभावित होती दिखे. . .

इस सब चीरा-फाड़ी में खुद को समर्पित करने के लिए हमने एक से एक शब्द भी चलाये. . .कभी प्रमाणिकता . . .तो कभी सार्थकता. हम प्रेमचंद को छोटा करते गये. . .साहित्य और जिंदगी को भी छोटा करने की कोशिश की, लेकिन ये सब तो खैर क्या छोटे होंगे. . .हमी छोटे हो गये.

आज का नजारा बेजोड़ है. . .नौजवान साहित्यकार टेक ऑफ ही नहीं कर पाता . . . .उसके पहले ही किसी पार्टी के आगे घुटने टेक देता है. साहित्य की बजाय पार्टी की सेवा में अपनी प्रतिभा गलाता है. हमारी तरह दुनिया को नहीं देखना तो तुम साहित्यकार नहीं हो, सारी कोशिशें अपने बौनेपन को छिपाने भर की. अंदर झांकने की बजाय बाहर को और भी छोटा जताने की बेचैनी. . . और फिर शिकायत, कि प्रेमचंद के बाद कौन? किसी भी भाषा के साहित्य में जो कुछ बड़ा होना होता है वह उसी भाषा की लकीर पर धीरे-धीरे सरकते हुए होता है. इसमें शक नहीं कि हिंदी कहानी और उपन्यास प्रेमचंद के बहुत आगे आये हैं, लेकिन प्रेमचंद के अनुपात में निरंतर लिखने वाले, तरह-तरह के पात्र, तरह-तरह की समस्याएं उठाने वाले लेखक कहां हैं? हर दूसरी रचना में नयी चीज उठाना. . . .यह कहां है? इसकी जगह है भयंकर दोहराव. हमने जैसे दरवाजे-खिड़कियां बंद कर लिये हैं. एक डंडी की जड़ वाला पेड़ एक लकीर के आकार में ही लगता है. बड़े होने के लिए उसकी जड़ों को जाल की तरह नीचे फैलना होता है. . .तभी ऊपर भी घनाव आता है. प्रेमचंद घने वृक्ष थे और हम हैं सिर्फ इकहरी ऊंचाई के दमदार. प्रेमचंद युग की तुलना में आज के यथार्थ में पेचीदगियां कितनी बढ़ गयी हैं. ऐसे युग में तो विविधता की और भी कद्र होनी चाहिए. व्यावसायिक या विशुद्ध मनोरंजन साहित्य और गंभीर साहित्य . . . .इनके अलावा कोई खेमे नहीं होने चाहिए. खुले दिमाग से साहित्य की शर्तों पर हर रचना की तौल हो. . .हर दृष्टि से जीवन को देखा जाये, क्योंकि कोई एक दृष्टि—चाहे जितनी परिपक्व या तेज हो—सब कुछ नहीं देख सकती.

प्रेमचंद के इस्तेमाल ने उनका सही मूल्यांकन कभी नहीं होने दिया. ऐसी धारणा बनी हुई है कि हिंदी कथा-साहित्य को जैसे बस प्रेमचंद ने आखिरी छोरों तक खींच दिया. (कविता या किसी दूसरी विधा में यह नहीं हुआ). . .जबकि बात दरअसल उल्टी ही है. प्रेमचंद सिर्फ एक शुरुआत थे—बेहद महत्वपूर्ण शुरुआत. अगर ऐसा न होता तो जैनेंद्र, अज्ञेय, रेणु, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती और और दूसरे कथाकारों में हिंदी कथा-साहित्य के जो नये आयाम खुले, वे न खुलते. प्रेमचंद या किसी बड़े साहित्यकार की महानता भी इसमें नहीं होती कि साहित्य की कोई विधा उस पर पहुंच कर खत्म हो जाती है, बल्कि इसमें होती है कि वह एक भाषा या विधा में इतनी स्फूर्ति फूंक देता है कि धारा वेगवती होकर मीलों आगे चलती है. . .

प्रेमचंद निस्संदेह यह कर सके थे, उनके उत्तराधिकारी ही अपनी महत्वकांक्षाओं के लिए अवरोध पैदा करते रहे हैं. □

देशी आम बनाम कलमी आम

• श्रीनारायण चतुर्वेदी

मुझे प्रेमचंदजी से मिलने का कई बार सौभाग्य प्राप्त हुआ. वे एक सरल, निश्छल, गंभीर और बुद्धिवादी सज्जन पुरुष थे.

उर्दू के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'जमाना' के संपादक और संचालक स्वर्गीय मुंशी दयानारायण निगम मेरे घनिष्ठ मित्र थे. 'जमाना' में बहुत दिनों से प्रेमचंदजी की उर्दू कहानियां निकालते रहने के अतिरिक्त वे उनके बड़े आत्मीय भी हो गये थे. प्रेमचंदजी सरकारी नौकरी में रहते हुए भी राष्ट्रीय भावना के लेख व कहानियां अपने असली नाम से लिखते थे. इस कारण वे सरकारी अधिकारियों के कोपभाजन हो गये थे. उन पर पाबंदी लगा दी गयी कि वे कोई लेख या कहानी बिना जिला मजिस्ट्रेट को दिखाये और बिना उनकी स्वीकृति लिये न छपायें. भला प्रेमचंदजी इस पाबंदी को कैसे मान सकते थे! उन्होंने मुंशी दयानारायणजी से छद्म नाम से लिखने की सलाह की और उनसे कोई अच्छा छद्म नाम बताने का अनुरोध किया. उन्होंने 'प्रेमचंद' नाम का सुझाव दिया, क्योंकि वह उर्दू में ही लिखते थे और वह उसमें चल सकता था. वह नामकरण उन्हें पसंद आया. बहुत दिनों केवल निगम जी ही यह बात जानते थे कि 'जमाना' में प्रेमचंद के नाम से कहानी और लेख लिखने वाला कौन है. इसी नाम से साहित्य जगत में उनकी ख्याति हुई. जिस समय प्रेमचंदजी हिंदी में में आये, उस समय

मुंशी दयानारायन निगम

फारसी कई शती तक उत्तर भारत की राजभाषा रही और अभिजात वर्ग में पर्याप्त प्रचलित हो गयी थी. मुगल साम्राज्य का अंत होते-होते उसका बहुत कुछ स्थान उर्दू ने ले लिया था. उर्दू में अनेक किस्से लिखे गये. इनके प्रभाव से अमीरों आदि के मनोरंजन के लिए किस्सागोई की एक नयी मौखिक प्रथा चली. 'रानी केतकी की कहानी' उसी किस्सागोई की शैली की झलक देती है. इस किस्सागोई से प्रेरित होकर उर्दू में लंबी, संभव या असंभव किंतु रोचक कहानियां लिखी जाने लगीं, जिनका विकास उर्दू के तिलिस्मी उपन्यासों में हुआ. पिछली शती के अंतिम चरण में उर्दू में 'तिलिस्मे होशरुबा' नामक एक उपन्यास लिखा गया. . . संभवतः 'तिलिस्मे होशरुबा' से प्रेरित होकर देवकीनंदन खत्री ने 'चंद्रकांता' नाम का एक तिलिस्मी उपन्यास लिखा, जो छपते ही अत्यंत लोकप्रिय हो गया. 'तिलिस्मे होशरुबा' और 'चंद्रकांता' में एक बड़ा अंतर था. 'तिलिस्मे होशरुबा' के ऐयारों में गैबी (दैवी) शक्ति थी. जब वे किसी कठिनाई को अपने बुद्धि-बल से हल नहीं कर सकते थे, तब गैबी शक्ति की सहायता से सफलता प्राप्त करते थे. देवकीनंदन खत्री ने इस शक्ति को स्वीकार नहीं किया. उनके ऐयार शत्रु को बेहोश करने के लिए लखलखा, (क्लोरोफार्म की तरह का कल्पित पदार्थ), ऊंची चहारदीवारी पर चढ़ने के लिए कमंद, प्लास्टिक सर्जरी की तरह रूप बदलने के उपाय आदि की सहायता लेते हैं.

कथा साहित्य की दूसरी विधा कहानी की स्थिति भिन्न थी, बीसों लेखक कहानियां लिख रहे थे. 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ आधुनिक कहानी का नया युग आरंभ हुआ. पहले अंक में 'इंदुमती' नाम की कहानी निकली जो अधिकांश विद्वानों द्वारा हिंदी की प्रथम आधुनिक कहानी मानी जाती है. . . यह संयोग ही कहा जायेगा कि 1915 के ही दिसंबर के 'सरस्वती' के अंक में प्रेमचंदजी की पहली हिंदी कहानी 'सौत' प्रकाशित हुई, जिसके साथ उन्होंने हिंदी कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया और बाद में हिंदी उपन्यास को नया रूप दिया. उनके संस्कार उस समय हिंदी भाषा और साहित्य के नहीं थे. तब तक शायद उन्हें हिंदी साहित्य में रुचि भी न थी. जिस व्यक्ति ने रामायण भी चलते हुए ढंग से ही पढ़ी हो, उससे केशव, सूर आदि में रुचि लेने या हिंदी के पुराने ढंग से उपन्यासों को पढ़ने या अध्ययन करने की आशा नहीं की जा सकती. भाषा, शैली, विषयवस्तु आदि में वे हिंदी के तब तक के उपन्यासों से एकदम भिन्न हैं. मैं उनके उपन्यासों को हिंदी उपन्यासों का स्वाभाविक विकास नहीं समझता. मेरी सम्मति में वे हिंदी उपन्यास रूपी वृक्ष पर नयी लगायी गयी बड़ी सफल कलम (ग्राफ्टिंग) की तरह हैं. और आप जानते हैं कि कलमी आम देशी आम से कहीं अधिक स्वादिष्ट और कीमती होता है. अंततः वे हिंदी में रम गये.

ऐसे महान और युग-प्रवर्तक कथाकार की जन्म-शती के महत्वपूर्ण अवसर पर हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं. हम हिंदी-भाषी उनके साहित्य-ऋण से उऋण नहीं हो सकते. □

(भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता, द्वारा आयोजित प्रेमचंद जन्म-शती समारोह के अवसर पर दिये गये उद्घाटन भाषण का संक्षिप्त अंश)

नमक का दारोगा

जब नमक का नया विभाग बना और ईश्वरप्रदत्त वस्तु के व्यवहार करने का निषेध हो गया तो लोग चोरी-छिपे इसका व्यापार करने लगे. अनेक प्रकार के छल-प्रपंचों का सूत्रपात हुआ. कोई घूस से काम निकालता था, कोई चालाकी से. अधिकारियों के पौ-बारह थे. पटवारीगिरी का सर्वसम्मनित पद छोड़-छोड़कर लोग इस विभाग की बरकंदाजी करते थे. इसके दारोगा पद के लिए तो वकीलों का भी जी ललचाता था. यह वह समय था जब अंगरेजी शिक्षा और ईसाई मत को लोग एक ही वस्तु समझते थे. फारसी दाँ प्रावल्य था. प्रेम की कथाएं और शृंगार रस के काव्य पढ़कर फारसी-दाँ लोग सर्वोच्च पदों पर नियुक्त हो जाया करते थे. मुंशी वंशीधर भी जुलेखा की विरह-कथा समाप्त करके मजनू और फरहाद के प्रेम-वृत्तांत को नल और नील की लड़ाई और अमेरिका के आविष्कार से अधिक महत्व की बातें समझते हुए रोजगार की खोज में निकले. उनके पिता एक अनुभवी पुरुष थे. समझाने लगे, 'बेटा! घर की दुर्दशा देख रहे हो. ऋण से दबे हुए हैं. लड़कियां हैं, वह घास-फूस की तरह बढ़ती चली जा रही हैं. मैं कगारे पर का वृक्ष हो रहा हूं, न मालूम कब गिर पड़ूं. अब तुम्हीं घर के मालिक-मुख्तार हो. नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर का मजार है. निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चाहिए. ऐसा काम ढूंढ़ना जहां कुछ ऊपरी आय हो. मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चांद है, जो एक दिन दिखायी देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है. ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है जिससे सदैव प्यास बुझती है. वेतन मनुष्य देता है, इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती. ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है, इसी से उसकी बरकत होती है. तुम स्वयं विद्वान हो, तुम्हें क्या समझाऊं. इस विषय में विवेक की बड़ी आवश्यकता है. मनुष्य को देखो, उसकी आवश्यकता को देखो और अवसर देखो, उसके उपरांत जो उचित समझो, करो. गरजवाले आदमी के साथ कठोरता करने में लाभ ही लाभ है लेकिन बेगरज को दांव पर पाना जरा कठिन है. इन बातों को निगाह में बांध लो. यह मेरी जन्म भर की कमाई है.'

इस उपदेश के बाद पिताजी ने आशीर्वाद दिया. वंशीधर आज्ञाकारी पुत्र थे. ये बातें ध्यान से सुनीं और तब घर से चल खड़े हुए. इस विस्तृत संसार में उनके लिए धैर्य अपना मित्र, बुद्धि अपनी पथप्रदर्शक और आत्मावलंबन ही अपना सहायक था. लेकिन अच्छे शकुन से चले थे, जाते ही जाते नमक विभाग के दारोगा पद पर प्रतिष्ठित हो गये. वेतन अच्छा और ऊपरी आय का तो ठिकाना ही न था. वृद्ध मुंशीजी को सुख-संवाद

मिला तो फूले न समाये. महाजन कुछ नरम पड़े, कलवार की आशा लता लहलहायी. पड़ोसियों के हृदय में शूल उठने लगे.

2

जाड़े के दिन थे और रात का समय. नमक के सिपाही, चौकीदार नशे में मस्त थे. मुंशी वंशीधर को यहां आये अभी छह महीनों से अधिक न हुए थे, लेकिन इस थोड़े समय में ही उन्होंने अपनी कार्यकुशलता और उत्तम आचार से अफसरों को मोहित कर लिया था. अफसर लोग उन पर बहुत विश्वास करने लगे. नमक के दफ्तर से एक मील पूर्व की ओर जमुना बहती थी, उस पर नावों का एक पुल बना हुआ था. दारोगा जी किवाड़ बंद किये मीठी नींद से सो रहे थे. अचानक आंख खुली तो नदी के प्रवाह की जगह गाड़ियों की गड़गड़ाहट तथा मल्लाहों का कोलाहल सुनाई दिया. उठ बैठे. इतनी रात गये गाड़ियां क्यों नदी के पार जाती हैं? अवश्य कुछ न कुछ गोलमाल है. तर्क ने भ्रम को पुष्ट किया. वर्दी पहनी, तमंचा जेब में रखा और बात की बात में घोड़ा बढ़ाये हुए पुल पर आ पहुंचे. गाड़ियों की एक लंबी कतार पुल के पार जाती देखी. डांटकर पूछा, "किसकी गाड़ियां हैं?"

थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा. आदमियों में कुछ कानाफूसी हुई, तब आगे वाले ने कहा, "पंडित आलोपीदीन की."

"कौन पंडित अलोपीदीन?"

"दातागंज के."

मुंशी वंशीधर चौंके. पंडित अलोपीदीन इस इलाके के सबसे प्रतिष्ठित जमींदार थे. लाखों रुपये का लेन-देन करते थे, इधर छोटे से बड़े कौन ऐसे थे जो उनके ऋणी न हों. व्यापार भी बड़ा लंबा-चौड़ा था. बड़े चलते-पुरजे आदमी थे. अंगरेजी अफसर उनके इलाके में शिकार खेलने आते और उनके मेहमान होते. बारहों मास सदाव्रत चलता था.

मुंशीजी ने पूछा, "गाड़ियां कहां जायेंगी?" उत्तर मिला, "कानपुर." लेकिन इस प्रश्न पर कि इनमें क्या है, सन्नाटा छा गया. दारोगा साहब का संदेह और भी बढ़ा. कुछ देर तक उत्तर की बाट देखकर वह जोर से बोले, क्या तुम सब गूंगे हो गये हो! हम पूछते हैं, इनमें क्या लदा है?

जब इस बार भी कोई उत्तर न मिला तो उन्होंने घोड़े को एक गाड़ी से मिलाकर बोरे को टटोला. भ्रम दूर हो गया. यह नमक के ढेले थे.

3

पंडित अलोपीदीन अपने सजीले रथ पर सवार, कुछ सोते कुछ जागते चले आते थे. अचानक कई गाड़ीवानों ने घबराये हुए आकर जगाया और बोले—"महाराज! दारोगा ने गाड़ियां रोक दी हैं और घाट पर खड़े आपको बुलाते हैं."

पंडित अलोपीदीन का लक्ष्मीजी पर अखंड विश्वास था. वह कहा करते थे कि संसार का तो कहना ही क्या, स्वर्ग में भी लक्ष्मी का ही राज्य है. उनका यह कहना यथार्थ ही था. न्याय और नीति सब लक्ष्मी के ही खिलौने हैं, इन्हें वह जैसे चाहती है नचाती है. लेटे ही लेटे गर्व से बोले, चलो हम आते हैं. यह कह कर पंडितजी ने बड़ी निश्चिंतता से पान के बीड़े लगाकर खाये. फिर लिहाफ ओढ़े हुए दारोगा के पास आकर बोले, "बाबूजी आशीर्वाद! कहिए, हमसे ऐसा कौन-सा अपराध हुआ कि गाड़ियां रोक दी गयीं. हम ब्राह्मणों पर तो आपकी कृपादृष्टि रहनी चाहिए."

वंशीधर रुखाई से बोले, "सरकारी हुक्म!"

पं. अलोपीदीन ने हंसकर कहा, "हम सरकारी हुक्म को नहीं जानते और न सरकार को. हमारे सरकार तो ही आप हैं. हमारा और आपका तो घर का मामला है, हम कभी आपसे बाहर हो सकते हैं? आपने व्यर्थ का कष्ट उठाया. यह हो नहीं सकता कि इधर से जायें और इस घाट के देवता को भेंट न चढ़ावें! मैं तो आपकी सेवा में स्वयं ही आ रहा था." वंशीधर पर ऐश्वर्य की मोहिनी वंशी का कुछ प्रभाव पड़ा. ईमानदारी की नयी उमंग थी. कड़क कर बोले, "हम उन नमकहरामों में नहीं हैं जो कौड़ियों पर अपना ईमान बेचते फिरते हैं. आप इस समय हिरासत में हैं. आपका कायदे के अनुसार चालान होगा. बस, मुझे अधिक बातों की फुर्सत नहीं है. जमादार बदलूसिंह! तुम इन्हें हिरासत में ले चलो, मैं हुक्म देता हूं."

पं. अलोपीदीन स्तंभित हो गये. गाड़ीवानों में हलचल मच गयी. पंडितजी के जीवन में कदाचित् यह पहला ही अवसर था कि पंडितजी को ऐसी कठोर बातें सुननी पड़ीं. बदलूसिंह आगे बढ़ा किंतु रोब के मारे यह साहस न हुआ कि उनका हाथ पकड़ सके. पंडितजी ने धर्म को धन का ऐसा निरादर करते कभी न देखा था. विचार किया कि यह अभी उद्दंड लड़का है. माया-मोह के जाल में अभी नहीं पड़ा. अल्हड़ है, झिझकता है. बहुत दीन-भाव से बोले, "बाबू साहब, ऐसा न कीजिए, हम मिट जायेंगे. इज्जत धूल में मिल जायेगी. हमारा अपमान करने से आपके हाथ क्या आयेगा. हम किसी तरह आपसे बाहर थोड़े ही हैं."

वंशीधर ने कठोर स्वर में कहा, "हम ऐसी बातें नहीं सुनना चाहते."

अलोपीदीन ने जिस सहारे को चट्टान समझ रखा था, वह पैरों के नीचे खिसकता हुआ मालूम हुआ. स्वाभिमान और धन ऐश्वर्य को कड़ी चोट लगी. किंतु अभी तक धन की सांख्यिकी शक्ति पर पूरा भरोसा था. अपने मुख्तार से बोले, "लालाजी, एक हजार के नोट बाबू साहब को भेंट करो, आप इस समय भूखे सिंह हो रहे हैं."

वंशीधर ने गरम होकर कहा, "एक हजार नहीं, एक लाख भी मुझे सच्चे मार्ग से नहीं हटा सकते."

धर्म की इस बुद्धिहीन दृढ़ता और देव-दुर्लभ त्याग पर मन बहुत झुंझलाया. अब दोनों शक्तियों में संग्राम होने लगा. धन ने उछल-उछल कर आक्रमण करने शुरू किये. एक से पांच, पांच से दस, दस से पंद्रह और पंद्रह से बीस हजार तक नौबत पहुंची, किंतु धर्म अलौकिक वीरता के साथ इस बहुसंख्यक सेना के सम्मुख अकेला पर्वत की भांति अटल, अविचलित खड़ा था.

अलोपीदीन निराश होकर बोले, "अब इससे अधिक मेरा साहस नहीं. आगे आपको अधिकार है."

वंशीधर ने अपने जमादार को ललकारा. बदलूसिंह मन में दारोगाजी को गालियां देता हुआ पंडित अलोपीदीन की ओर

उपन्यास 'किशना' आखिरकार कहां गया ?

यह खेदजनक स्थिति है कि प्रेमचंद का संपूर्ण साहित्य आज भी पाठकों के सम्मुख नहीं है इनमें उनका एक उर्दू उपन्यास 'किशना' भी है. प्रेमचंद ने अपने एक पत्र में 'किशना' के प्रकाशित होने की बात स्वीकार भी की है. 'जमाना' के अगस्त, 1907 के अंक में इसका पहला इश्तहार छपा था और अक्तूबर-नवंबर, 1907 के अंक में समीक्षा छपी थी कि उपन्यास समाज सुधार से संबंधित है.

'इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, लंदन' की ग्रंथ-सूची में अप्राप्य उर्दू उपन्यास 'किसना' का विवरण

Nawab Rai.—[illegible] [Kishnā. A social novel named after its heroine. Being No. 1 of the "Indian Social Reform" series of copyright novels.] Pages 141. Published by the Printer. 1906 [December 1906.] 8°, Litho., 1st edition.

Price, 8 annas.

'इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, लंदन' की श्रीमती त्रिपाठी के अनुसार, 'किशना' अब गायब है. वहां की ग्रंथ-सूची में 'किशना' का विवरण इस प्रकार है—दिसंबर, 1906 में 'किशना' 'इंडियन सोशल रिफॉर्म' सीरिज के अंतर्गत प्रकाशित हुआ. यह उपन्यास 141 पृष्ठ का था और कीमत थी आठ आने.

● कमलकिशोर गोयनका

बढ़ा. पंडितजी घबड़ाकर दो-तीन कदम पीछे हट गये. अत्यंत दीनता से बोले,"बाबू साहब, ईश्वर के लिए मुझ पर दया कीजिए, मैं पच्चीस हजार पर निपटारा करने को तैयार हूं."

"असंभव बात है."

"तीस हजार पर."

"किसी तरह भी संभव नहीं."

"क्या चालीस हजार पर भी नहीं?"

"चालीस हजार नहीं, चालीस लाख पर भी असंभव है."

"बदलूसिंह, इस आदमी को अभी हिरासत में ले लो. अब मैं एक शब्द भी नहीं सुनना चाहता."

धर्म ने धन को पैरों तले कुचल डाला. अलोपीदीन ने एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य को हथकड़ियां लिये हुए अपनी तरफ आते देखा. चारों ओर निराश और कातर दृष्टि से देखने लगे. इसके बाद यकायक मूर्छित होकर गिर पड़े.

4

दुनिया सोती थी, पर दुनिया की जीभ जागती थी. सवेरे देखिए तो बालक-वृद्ध सबके मुंह से यही बात सुनायी देती थी. जिसे देखिए वही पंडितजी के इस व्यवहार पर टीका-टिप्पणी कर रहा था, निंदा की बौछार हो रही थीं, मानो संसार से अब पापी का पाप कट गया. पानी को दूध के नाम से बेचनेवाला ग्वाला, कल्पित रोजनामचे भरने वाले अधिकारी वर्ग, रेल में बिना टिकट सफर करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज बनाने वाले सेठ और साहूकार, सब के सब देवताओं की भांति गर्दनें चला रहे थे. जब दूसरे दिन पंडित अलोपीदीन अभियुक्त होकर कांस्टेबलों के साथ, हाथों में हथकड़ियां, हृदय में ग्लानि और क्षोभ भरे, लज्जा से गर्दन झुकाये अदालत की तरफ चले तो सारे शहर में हलचल मच गयी. मेलों में कदाचित् आंखें इतनी व्यग्र न होती होंगी. भीड़ के मारे छत और दीवार में कोई भेद न रहा.

किंतु अदालत में पहुंचने की देर थी. पंडित अलोपदीन इस अगाध वन के सिंह थे. अधिकारी वर्ग उनके भक्त, अमले उनके सेवक, वकील-मुख्तार उनके आज्ञा पालक और अरदली, चपरासी तथा चौकीदार तो उनके बिना मोल के गुलाम थे. उन्हें देखते ही लोग चारों तरफ से दौड़े. सभी लोग विस्मित हो रहे थे. इसलिए नहीं कि अलोपीदीन ने क्यों यह कर्म किया, बल्कि इसलिए कि वह कानून के पंजे में कैसे आये. ऐसा मनुष्य जिसके पास असाध्य साधन करने वाला धन और अनन्य वाचालता हो, वह क्यों कानून के पंजे में आये. प्रत्येक मनुष्य उनसे सहानुभूति प्रकट करता था. बड़ी तत्परता से इस आक्रमण को रोकने के निमित्त वकीलों की एक सेना तैयार की गयी. न्याय के मैदान में धर्म और धन में युद्ध ठन गया. वंशीधर चुपचाप खड़े थे. उनके पास सत्य के सिवा न कोई बल था, न स्पष्ट भाषण के अतिरिक्त कोई शस्त्र. गवाह थे, किंतु लोभ से डावांडोल.

यहां तक कि मुंशीजी का न्याय भी अपनी ओर से कुछ खिंचा हुआ दीख पड़ता था. वह न्याय का दरबार था, परंतु उसके कर्मचारियों पर पक्षपात का नशा छाया हुआ था. किंतु पक्षपात और न्याय का क्या मेल? जहां पक्षपात हो, वहां न्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती. मुकदमा शीघ्र ही समाप्त हो गया. डिप्टी मजिस्ट्रेट ने अपनी तजवीज में लिखा, 'पंडित अलोपीदीन के विरुद्ध दिये गये प्रमाण निर्मूल और भ्रमात्मक हैं. वह एक बड़े भारी आदमी हैं. यह बात कल्पना के बाहर है कि उन्होंने थोड़े लाभ के लिए ऐसा दुस्साहस किया हो. यद्यपि नमक के दारोगा मुंशी वंशीधर का अधिक दोष नहीं, लेकिन यह बड़े खेद की बात है कि उसकी उद्दंडता और विचारहीनता के कारण एक भलेमानुस को कष्ट झेलना पड़ा. हम प्रसन्न हैं कि वह अपने काम से सजग और सचेत रहता है, किंतु नमक से मुकदमे की बढ़ी हुई नमकहलाली ने उसके विवेक और बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया. भविष्य में उसे होशियार रहना चाहिए.

वकीलों ने यह फैसला सुना और उछल पड़े. पंडित अलोपीदीन मुस्कराते हुए बाहर निकले. स्वजन बांधवों ने रुपयों की लूट की. उदारता का सागर उमड़ पड़ा. उसकी लहरों ने अदालत की नींव तक हिला दी. जब वंशीधर बाहर निकले तो चारों ओर से उनके ऊपर व्यंगवाणों की वर्षा होने लगी. चपरासियों ने झुक-झुक कर सलाम किये. किंतु इस समय एक-एक कटु-वाक्य, एक-एक संकेत उनकी गर्वाग्नि को प्रज्वलित कर रहा था.

कदाचित् इस मुकदमे में सफल होकर वह इस तरह अकड़ते हुए न चलते. आज उन्हें संसार का एक खेदजनक विचित्र अनुभव हुआ. न्याय और विद्वता, लंबी-चौड़ी उपाधियां , बड़ी-बड़ी दाढ़ियां और ढीले चौगे, एक भी सच्चे आदर के पात्र नहीं हैं.

वंशीधर ने धन से बैर मोल लिया था, उसका मूल्य चुकाना अनिवार्य था. कठिनता से एक सप्ताह बीता होगा कि मुअत्तली का परवाना आ पहुंचा. कार्य परायणता का दंड मिला. बेचारे भग्न हृदय, शोक और खेद से व्यथित घर को चले. बूढ़े मुंशीजी तो पहले ही से कुड़बुड़ा रहे थे कि चलते-चलते इस लड़के को समझाया था, लेकिन इसने एक न सुनी. सब मनमानी करता है. हम तो कलवार और कसाई के तगादे सहें, बुढ़ापे में भगत बनकर बैठें और वहां बस वही सूखी तनख्वाह! हमने भी तो नौकरी की है और कोई ओहदेदार नहीं थे, लेकिन काम किया, दिल खोलकर किया और आप ईमानदार बनने चले हैं. घर में चाहे अंधेरा हो, मस्जिद में अवश्य दिया जलायेंगे. खेद ऐसी समझ पर! पढ़ना-लिखना सब अकारथ गया. इसके थोड़े ही दिनों बाद, जब मुंशी वंशीधर इस दुरवस्था में घर पहुंचे और बूढ़े पिताजी ने समाचार सुना तो सिर पीट लिया. बोले, "जी चाहता है कि तुम्हारा और अपना सिर फोड़ लूं." बहुत देर तक पछता-पछताकर हाथ मलते रहे. क्रोध में कुछ कठोर बातें भी कहीं और यदि वंशीधर वहां से न टल जाते तो अवश्य ही यह क्रोध विकट रूप धारण करता. वृद्धा माता को भी दुख हुआ. जगन्नाथ और रामेश्वर यात्रा की कामनाएं मिट्टी में मिल गयीं. पत्नी ने तो कई दिन तक सीधे मुंह से बात भी नहीं की .

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया. संध्या का समय था. बूढ़े मुंशीजी बैठे राम-नाम की माला जप रहे थे. इसी समय उनके द्वार पर सजा हुआ रथ आकर रुका. हरे और गुलाबी पर्दे, पछहियें बैलों की जोड़ी, उनकी गर्दनों में नीले धागे, सींगें, पीतल से जड़ी हुई. कई नौकर लाठियां कंधों पर रखे साथ थे. मुंशीजी अगवानी को दौड़े. देखा तो पंडित अलोपीदीन हैं. झुककर दंडवत की और लल्लो-चप्पो की बातें करने लगे. "हमारा भाग्य उदय हुआ, जो आपके चरण इस द्वार पर आये. आप हमारे पूज्य देवता हैं, आपको कौन-सा मुंह दिखावें. मुंह में तो कालिख लगी हुई है. किंतु क्या करें, लड़का अभागा कपूत है, नहीं तो आपसे क्यों मुंह छिपाना पड़ता? ईश्वर निस्संतान चाहे रक्खे पर ऐसी संतान न दे."

अलोपीदीन ने कहा, "नहीं भाई साहब, ऐसा न कहिए."

मुंशीजी ने चकित होकर कहा, "ऐसी संतान को क्या कहूं!"

अलोपीदीन ने वात्सल्यपूर्ण स्वर में कहा, "कुलतिलक और पुरुषों की कीर्ति उज्ज्वल करने वाले संसार में ऐसे कितने धर्मपरायण मनुष्य हैं, जो धर्म पर अपना सब कुछ अर्पण कर सकें."

पं. अलोपीदीन ने वंशीधर से कहा, "दारोगा जी, इसे खुशामद न समझिए, खुशामद करने के लिए मुझे इतना कष्ट उठाने की जरूरत न थी. उस रात को आपने अपने अधिकार-बल से मुझे अपनी हिरासत में लिया था, किंतु आज मैं स्वेच्छा से आपकी हिरासत में आया हूं. मैंने हजारों रईस और अमीर देखे, हजारों उच्च पदाधिकारियों से काम पड़ा, किंतु मुझे परास्त किया तो आपने. मैंने सबको अपना और अपने धन का गुलाम बनाकर छोड़ दिया. मुझे आज्ञा दीजिए कि आपसे कुछ विनय करूं."

वंशीधर ने अलोपीदीन को आते देखा तो उठकर सत्कार किया, किंतु स्वाभिमान सहित. समझ गये कि यह महाशय मुझे लज्जित करने और जलाने आये हैं. क्षमा-प्रार्थना की चेष्टा नहीं की, वरन् उन्हें अपने पिता की यह ठकुर-सुहाती की बात असह्य-सी प्रतीत हुई. पर पंडितजी की बातें सुनीं तो मन की मैल मिट गयी. पंडितजी की ओर उड़ती हुई दृष्टि से देखा. सद्भाव झलक रहा था. गर्व ने अब लज्जा के सामने सिर झुका दिया. शर्माते हुए बोले, "यह आपकी उदारता है जो ऐसा कहते हैं. मुझसे जो कुछ अविनय हुई है, उसे क्षमा कीजिए. मैं धर्म की बेड़ी में जकड़ा हुआ था, नहीं तो वैसे मैं आपका दास हूं. जो आज्ञा होगी, वह मेरे लिए सिर माथे पर.

अलोपीदीन ने विनीत भाव से कहा, "नदी तट पर आपने मेरी प्रार्थना नहीं स्वीकार की थी, आज स्वीकार करनी पड़ेगी."

वंशीधर बोले, "मैं किस योग्य हूं, किंतु जो कुछ सेवा मुझसे हो सकती है, उसमें त्रुटि न होगी."

अलोपीदीन ने एक स्टांप लगा हुआ पत्र निकाला और उसे वंशीधर के सामने रखकर बोले, "इस पद को स्वीकार कीजिए और अपने हस्ताक्षर कर दीजिए. मैं ब्राह्मण हूं, जब तक यह सवाल पूरा न कीजिएगा, द्वार से न हटूंगा."

मुंशी वंशीधर ने उस कागज को पढ़ा तो कृतज्ञता से आंखों में आंसू भर आये. पंडित अलोपीदीन ने उसको अपनी सारी जायदाद का स्थायी मैनेजर नियुक्त किया था. छह हजार वार्षिक वेतन के अतिरिक्त रोजाना खर्च अलग, सवारी के लिए घोड़े, रहने को बंगला, नौकर-चाकर मुफ्त. कंपित स्वर में बोले, "पंडितजी, मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि आपकी उदारता की प्रशंसा कर सकूं, किंतु मैं ऐसे उच्च पद के योग्य नहीं हूं."

अलोपीदीन हंसकर बोले, "मुझे इस समय एक अयोग्य मनुष्य की ही जरूरत है."

वंशीधर ने गंभीर भाव से कहा, "यों मैं आपका दास हूं. आप जैसे कीर्तिवान, सज्जन पुरुष की सेवा करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है. किंतु मुझमें न विद्या है, न बुद्धि, न वह स्वभाव जो इन त्रुटियों की पूर्ति कर देता है. ऐसे महान कार्य के लिए एक बड़े मर्मज्ञ अनुभवी व्यक्ति की जरूरत है.

अलोपीदीन ने कलमदान से कलम निकाली और उसे वंशीधर के हाथ में देकर बोले, "न मुझे विद्वत्ता की चाह है, न अनुभव की, न मर्मज्ञता की, न कार्य-कुशलता की. इन गुणों के महत्व का परिचय खूब पा चुका हूं. अब सौभाग्य और सुअवसर ने मुझे वह मोती दे दिया है जिसके सामने योग्यता और विद्वता की चमक फीकी पड़ जाती है. यह कलम लीजिए, अधिक सोच-विचार न कीजिए, दस्तखत कर दीजिए. परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह आपको सदैव वही नदी के किनारे वाला, बेमुरौवत, उद्दंड, कठोर परंतु धर्मनिष्ठ दारोगा बनाये रखे!

वंशीधर की आंखें डबडबा आयीं. हृदय के संकुचित पात्र में इतना एहसान न समा सका. एक बार फिर पंडितजी की ओर भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखा और कांपते हुए हाथ से मैनेजरी के कागज पर हस्ताक्षर कर दिये.

अलोपीदीन ने प्रफुल्लित होकर उन्हें गले लगा लिया. □

आजादी मिलने से पहले प्रेमचंद के बेलारी गांव का होरी और आजादी मिलने के बाद सिवपुर का टुन्नी बेगार, जुल्म और शोषण की लगभग एक जैसी हालत में जीते हुए नजर आते हैं. फर्क आया है तो सिर्फ इतना कि दंद-फंद और छल-कपट की नीतियों से उभरा नवधनाढ्य वर्ग पहले से कहीं अधिक क्रूर और हिंस्र हो गया है, जिसके लिए विदेशी आकाओं के आतंक में टुन्नी की हत्या कर साफ बच जाना इतना आसान नहीं था, जितना कि आज देशी आकाओं की सत्ता में हो गया है. इसी संदर्भ में प्रस्तुत है गांव की पृष्ठभूमि पर श्री शिवसागर मिश्र की रिपोर्ताजकथा, जिन्होंने गांवों की जिंदगी को बहुत करीब से देखा और परखा है.

हम कहें गांव की गाथा

●शिवसागर मिश्र

प्रेमचंद का होरी बेलारी नामक किसी एक गांव का निवासी नहीं था, बल्कि वह उत्तरप्रदेश, बिहार अथवा मध्यप्रदेश के किसी भी गांव का हो सकता है. बेलारी में ही क्यों, भारत के अधिकांश गांवों में आज भी नोखेराम, मंगरू शाह, दातादीन, झिंगुरी सिंह और पटेश्वरी जैसे कारिंदे, पटवारी या 'कर्मभूमि' के महंत आशाराम गिरि जैसे शोषक मठाधीश बिना ढूंढ़े पाये जा सकते हैं, जो गोबर जैसे हजारों-लाखों परवश किसानों, नौजवानों को मूलोच्छिन्न करके अपने पूर्वजों की मरजाद की लाश कंधे पर उठाकर शहर के नारकीय दलदल में धंसने पर मजबूर कर रहे हैं.

बात को समझने के लिए आइए जरा सिवपुर चलें. आप चाहें तो सिवपुर को बेलारी भी कह सकते हैं या सुइयाकलां, पारसबीघा या नारायणपुर. सिवपुर गांव को दो हिस्सों में बांटती हुई रेल लाइन चली गयी है. 1857 के बाद और बीसवीं सदी के पहले यह रेल लाइन बनी थी. तब से आज तक इसमें इतना ही फर्क आया है कि छोटी लाइन को बड़ी लाइन में बदल दिया गया है. एक कच्ची ऊबड़-खाबड़ सड़क पुरबारी (पूर्वी) टोले को पछियारी (पश्चिमी) टोले से जोड़ती है. सड़क के दोनों ओर, कहीं-कहीं सड़क से कुछ दूर, ऊंची जाति के छोटे-बड़े किसानों के घर बसे हुए हैं. अधिकांश घर फूस के हैं. 15-20 घर खपरैल और 8-9 घर ईंट के. लगभग सभी घर पुराने हैं. दुसाधों का टोला इन घरों से हटकर गांव के किनारे बसा हुआ है और चमारों का टोला बिलकुल अलग, गांव के बाहर.

सिवपुर के तीन-चार परिवार अचानक ही अधिक संपन्न हो गये. यह संपन्नता खेती से नहीं आयी, पसीना बहाने से भी नहीं. यह संपन्नता आयी समय का रुख पहचान पाने की बदौलत, नंबर दो की पूंजी से या घूसखोरी से. जय हो लोकतंत्र की. चलता रहे चुनाव अभियान का अखंड यज्ञ कि ऐसे लोगों की पांचों उंगलियां घी में बनी रहें. बहरहाल, इन्हीं संपन्न परिवारों में एक परिवार है महंत रामदास का. भगवान जिसे देता है, छप्पर फाड़कर देता है. रामदास पर भगवान की ऐसी ही कृपा हुई थी. वे दो भाई थे. बड़ा भाई राम पदारथ किशोरावस्था में बड़ा आदर्शवादी था. मोटी खादी पहनता था. गांव में पुस्तकालय खोलने के लिए मुठिया वसूलता फिरता था और पांव पैदल घूमकर अपढ़ लोगों में देशभक्ति का संचार किया करता था. स्वाधीनता मिलने के बाद वह सत्ता की होड़ में पिछड़ गया. इलाके के दब्बू, धूर्त, लोभी बैदजी पटना पहुंच गये. रामपदारथ को घोर निराशा हुई. वह इतना अधीर हो उठा कि साधु बन गया. कुछ वर्षों बाद लोगों ने सुना कि वह खीरपुर के प्रसिद्ध महंत की गद्दी का हकदार बन गया है.

रामदास के बचपन का नाम था रामजनम. रामजनम के घर में गरीबी और भूख के अतिरिक्त कुछ नहीं था. बड़े भाई के प्रति उसकी अपार भक्ति ने उसे खीरपुर की ओर आकर्षित किया और वहां आने-जाने लगा. भक्ति का यह क्रम इतना हो गया कि वह बहुधा खीरपुर में ही रहने लगा. एक दिन अचानक महंतजी की हत्या हो गयी. रामजनम गद्दी का हकदार बनकर खड़ा हो गया. ऐसे लोग भी मिल गये, जो गंगाजल लेकर कसम खाने को तैयार थे कि महंतजी ने अपने छोटे भाई को ही शिष्य बनाया था. रामजनम को मठ की गद्दी मिल गयी और वह महंत रामदास के नाम से विख्यात हो गया. उसी रामदास के शिवपुर स्थित मकान के दरवाजे पर आज चंद सिपाहियों के साथ दारोगाजी विराजमान हैं.

महंतिन के गले का हार चोरी चला गया था. इसके पहले भी खलिहान से कई बार अनाज की बोरियां गायब हो चुकी थीं. बेकसूर टुन्नी इस इलजाम में तीन-चार बार मार खाने के बाद सचमुच चोर बन गया. पकड़ा भी गया और पिटाई भी हुई, लेकिन दोनों मजबूर थे. महंतजी को ऐसा थेथर और मेहनती हलवाहा नहीं मिलता था और टुन्नी को ताड़ी पीने की बुरी लत पड़ गयी थी. महंतिन की मटरमाला शृंगारदान से गायब हुई तो टुन्नी पर ही शक गया, उसे मारते-मारते बेदम कर दिया गया. फिर भी उसने कबूल नहीं किया. महंत के मुसाहिबों ने राय दी कि शहर में एक ओझा है, जो चोर का ही नहीं, चोरी गये सामान का भी सही सही पता बता देता है. टुन्नी को पकड़कर उसी ओझा के पास ले चलना चाहिए.

शहर जाते समय महंत रामदास के साथ चार मुस्टंडे भी थे. दूसरे दिन शाम को अपने मुस्टंडों के साथ महंतजी घर लौट आये. टुन्नी साथ नहीं था. उसके घरवालों की जिज्ञासा शांत करने के लिए कहलवा दिया, "रास्ते में बस से कहीं उतर गया. भीतर जगह
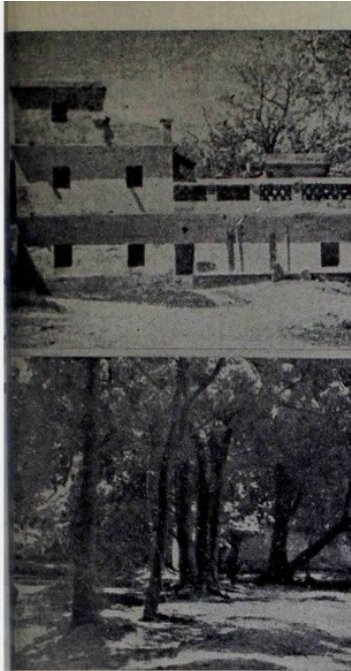
लमही में प्रेमचंद का मकान (ऊपर) तथा लमही गांव (नीचे)

नहीं थी. बस की छत पर बैठा दिया गया, कहीं पेशाब करने उतरा होगा. आ जायेगा कल-परसों तक." तीन दिन बीत जाने के बाद भी टुन्नी नहीं लौटा, तब उसके घरवालों ने मुखिया को अर्जी दे दी. मुखिया जी क्या कहते. उनको गांव में क्या नहीं रहना है? मुश्किल से एक बीघा खेत है और खाने वाले मुख छह. महंत की जमीन बटाई पर जोतते हैं. समय-असमय रुपए-पैसे लेते रहते हैं, सो अलग.

इधर गांवों में एक अंतर जरूर आया है. हर गांव में दो-तीन नेता हैं, जो गूढ़जीवी बनकर रहते हैं. समस्याओं में पलीता लगाते रहते हैं. समस्याएं कई हैं, पहले जमींदारी के चलते थीं, अब नेताओं और बड़े काश्तकारों के चलते हैं, ठेकेदारों और तस्करों के चलते हैं. ऊंची जाति और पिछड़ी जाति का महाभारत उठ खड़ा हुआ है, इन सभी मुद्दों को प्रतिनिधित्व देने वाले नेता भी पैदा हो गये हैं. और हर तीन-चार गांव के आस-पास कोई न कोई कस्बा उठ खड़ा हुआ है, जहां शाम के वक्त पान या चाय की दूकान पर इलाके के हीरो एकत्र होते हैं. इलाके के अधिकांश लोगों में महंत के आदमी थे, लेकिन कुछ एक हीरो उनसे खार खाये बैठे थे. जब टुन्नी दुसाध का पता तीन-चार सप्ताह तक नहीं लगा और मुखिया डुबकी लगाये बैठा रहा, तब उन लोगों में से किसी हीरो ने पटने और दिल्ली तार भेज दिये. हरिजन की हत्या! प्रशासन को अपेक्षित कारंवाई के आदेश दिये गये. दारोगाजी को हाथ गरम करने का मौका मिला. वे सदल-बल महंतजी के दरवाजे पर हाजिर हुए. आनन-फानन पूरे गांव में यह बात फैल गयी कि दारोगा महंत रामदास को हत्या के जुर्म में गिरफ्तार करने आया है.

जितने मुंह, उतनी तरह की बातें. कोई महंत के पक्ष में बोल रहा है तो कोई विपक्ष में. कोई सुनी सुनायी बात को रस-पाग में लपेटकर कहानी का रूप दे रहा है, तो कोई दार्शनिक मुद्रा में कह देता है, "जिस राह पर टुन्नी चल पड़ा था, उसका पड़ाव यही था. दिन रात ताड़ी के नसे में धुत रहता था साला. अपनी घरवाली को मारते-मारते बेदम कर देता था. आखिर भगवान तो कहीं-न-कहीं है ही."

"कहां है भगवान? वह होता तो क्या महंतजी रामजनम से रामदास बन पाते. कौन नहीं जानता है कि अपने बड़े भाई की गद्दी हथियाने के लिए उन्होंने खुद उसकी हत्या करवा दी. क्या कर लिया भगवान ने. इतना बड़ा महल क्या रामजनम बनवा सकते थे. एक बीघा जमीन थी दोनों भाइयों के बीच और छोटा-सा टूटा-फूटा खपरैल घर. आज इनके पास कुछ नहीं, तो एक सौ बीघे से ऊपर जमीन है."

कोई नहीं जानता कि रामजनम के बड़े भाई की हत्या किसने की. रामजनम खीरी मठ में पहुंचते ही इतने समर्थ हो गये कि अपने गांव के जरूरतमंदों को सूद पर पैसे देने लगे. मूल रकम कोई-कोई ही चुका पाता था और रामजनम ऐसे लोगों की जमीन लिखवा लेते थे. एक दिन रामजनम के बड़े भाई खीरी के महंत शहर से लौट रहे थे कि आम के बगीचे के पास अंधेरे में कुछ लोगों ने उन्हें घेर लिया और गंड़ासे से उनका सिर काट लिया. रामजनम उन दिनों खीरी में ही थे. मुकदमा चला, लेकिन इस बात के लिए नहीं कि महंत के हत्यारों को सजा मिले, बल्कि इसलिए कि गद्दी का हकदार कौन हो. रामजनम ने सिद्ध कर दिया कि खीरी की गद्दी का असली उत्तराधिकारी वही है.

रामदास अपने भाई से होशियार निकले. ऐसे वातावरण में भला वह कैसे रह सकते थे, जहां उनके बड़े भाई की हत्या हो चुकी थी. इसलिए सब कुछ पानी के मोल बेच-बाचकर वे अपने गांव सिवपुर आ गये और आलीशान इमारत बना ली.

दारोगा और महंतजी को लेकर गांव के मुखियाजी कमरे के भीतर चले गये हैं. मतलब की जांच-पड़ताल वहीं हो रही है. बरामदे में बैठे चार सिपाही हलुआ-कचौड़ी उठा रहे हैं. कमरे के भीतर असली कारंवाई होती रही. लगभग चार घंटे बाद दारोगाजी कमरे से बाहर निकले. उन्होंने बाहर खड़ी भीड़ पर आग्नेय दृष्टि डाली और हाथ के इशारे से सिपाहियों को चलने का आदेश दे दिया. और चार वर्ष बीत जाने के बाद भी टुन्नी दुसाध आज तक घर नहीं लौटा है.

इस रूप में हम देखते हैं कि कस्बे के करीब का गांव हो या दूर का, वहां कोई खास बदलाव नहीं आया है. बदलाव यदि आया है तो यह कि वे अब अधिक बंट गये हैं. मानने के लिए कोई 'मरजाद' नहीं रह गयी है. बेलारी था और आज भी है. पारसबीघा में नरसंहार क्यों हुआ? क्यों नीची जाति की लड़की को रखने के लिए ऊंची जाति के बाबू साहब का सिर काट लिया गया? क्योंकि दृष्टि नहीं बदली. गांव अपने घेरे में कैद है.

इस गांव की उपेक्षा करके क्या भारत जीवित रह सकेगा? यदि नहीं तो फिर क्यों इसे तिरस्कृत किया जा रहा है? भारत गांवों में बसता है, बयासी प्रतिशत आबादी वहां रहती है. गांव का किसान पहले खेत जोतने में गर्व का अनुभव करता था. खेती को उत्तम धंधा माना जाता था. आज क्या हो गया कि एक गोबर नहीं, असंख्य गोबर, अनेक यशस्वी व्यक्ति, बुद्धिजीवी आदि गांव छोड़कर शहर की ओर भागे जा रहे हैं?

शहर ने गांव को तोड़कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया. गांव सुंदर था, शस्य-श्यामल था, वहां के लोग सरल, सहृदय थे. भूमि पर सामूहिक (पंचायत का) अधिकार था. उपज का एक निश्चित अंश, लगान के रूप में सरकार-को मिल जाता था. उपज कम हो गयी तो अंश भी कम हो गया.

अंग्रेजी हुकूमत आयी. उसे व्यापार करना था. उसने जमीन पर अधिकार कर लिया, कुटीर उद्योगों का खात्मा कर दिया और भूमि की स्थायी बंदोबस्ती और रैयतवारी व्यवस्था करके जमींदारों का नया वर्ग पैदा कर दिया. हुकूमत की तरफ से जमींदार लगान वसूल करने लगे और वह भी उपज का एक अंश नहीं, बल्कि नकदी के रूप में. उपज नहीं हुई, तब भी जमींदार के कारिंदे लगान वसूल करने के लिए हाजिर. किसान लगान न दें, तो कुर्की की नौबत आ पहुंचने लगी. इस डर से किसान कर्ज पर निर्भर रहने लगे. और कर्ज देने वाला महाजन है भयंकर जोंक, जो खून ही नहीं, मांस तक नोच लेने में समर्थ है. बेचारा किसान एक साथ साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का शिकार हो गया.

असरारे मआबिद

प्रेमचंद अपने पहले ही उपन्यास में सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करने के प्रति सचेत दिखलाई देते हैं. उपन्यास में लिंगेश्वरनाथ मंदिर के महंत और उनके चेलों के भ्रष्टाचारी एवं पतित जीवन का चित्र खींचा गया है. प्रेमचंद दिखलाते हैं कि धर्म की आड़ में किस प्रकार महंत एवं पुजारी भोले-भाले स्त्री समाज को पतित करते हैं. प्रेमचंद 23 वर्ष की अवस्था में धर्म के पाखंड और आडंबर को निरावरण करने में लगे और 55-56 वर्ष की अवस्था में भी इसी विषैली धार्मिक व्यवस्था की यंत्रणा को 'कफन' और 'गोदान' में अभिव्यक्त करते रहे.

जुलाई, 1962 में अमृतराय ने प्रेमचंद का अप्राप्य एवं अज्ञात साहित्य प्रकाशित करके एक ऐतिहासिक कार्य संपन्न किया. इस में प्रेमचंद का प्रथम उपन्यास (उर्दू) 'असरारे मआबिद' अर्थात 'देवस्थान रहस्य' भी कुछ भाषागत रूपांतर के बाद संकलित किया गया. यह उर्दू साप्ताहिक-पत्र 'आवाजए खल्क' में धारावाहिक रूप में निकला था.

प्रेमचंद द्रष्टा थे. अपने समय की स्थिति में उन्होंने भविष्य का इतिहास देखा. उन्होंने उस समय के आदमी की व्यथा-कथा लिखी. समय ही इतिहास है. इसलिए प्रेमचंद की अभिव्यक्ति इतिहास की, विराट की गहन अभिव्यक्ति है. उनका सामयिक चित्र युग-युग के मानवीय सत्य का प्रतिबिंब है.

आज के कुछ सक्षम बुद्धिजीवी अपने देश के ग्रामीण परिवेश से, समाज से कटकर दूर जा गिरे हैं, या महत्त्वाकांक्षा ने उन्हें मार्ग भ्रष्ट कर दिया है. वे मात्र व्यक्ति को स्रष्टि का आधार मान बैठे हैं. वही परिवेश से कटा हुआ व्यक्ति 'अहं' बनकर उनके भीतर से रचना के रूप में अभिव्यक्ति पा रहा है. वे नहीं मानते कि व्यक्ति और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित हैं और समाज की इकाई परिवार है. सामाजिक जीवन का आधार ही परिवार है, किंतु इन बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों को इससे कुछ लेना-देना नहीं है. फिर वे गांव पर लिखें क्यों?

फणीश्वरनाथ 'रेणु' जैसे कुछ सशक्त तेजस्वी हस्ताक्षरों ने ग्रामीण परिवेश से संबद्ध विषयों पर सफलतापूर्वक लिखा तो साहित्यिक महंतों का आसन डगमगाने लगा. इतनी सुंदर, सफल, प्रभावकारी रचना ग्रामीण परिवेश पर? प्रसन्नता से अधिक चिंता हुई और उन रचनाओं को आंचलिकता की संज्ञा देकर एक किनारे रख दिया गया. सच पूछिए तो आंचलिकता निरर्थक नारा है. जीवन हर जगह, हर स्थिति में जीवन है, भले वह जेल की कालकोठरी में हो या कुंभ के रेला में, गांव में हो या शहर में. और जब भारत के संपूर्ण जीवन का यथार्थ चित्रित करना हो तो ग्रामीण परिवेश से संबद्ध होना ही पड़ेगा. □

कर्बला

प्रेमचंद के नाटक का संक्षिप्त कथारूपांतर

खलीफा मुआविया खुदा को प्यारे हुए. उनके बेटे यज़ीद ने अपने खलीफा होने की घोषणा का आदेश दे दिया. शराब और शबाब के साथ दरबार जुड़ा. यज़ीद ने अपने खास दरबारी जुहाक से पूछा, "नगर में मेरी खिलाफत (खलीफा बनने) का ढिंढोरा पीट दिया गया?"

जुहाक ने अदब से जवाब दिया, "कोई गली, कूचा, नाका, सड़क, मस्जिद, बाजार, खानकाह ऐसा नहीं है, जहां हमारे ढिंढोरे की आवाज न पहुंची हो. यह आवाज वायुमंडल को चीरती हुई हिजाज, यमन, ईराक, मक्का-मदीना में गूंज रही है. उसे सुनकर शत्रुओं के दिल दहल उठे हैं."

यज़ीद ने फिर पूछा, "मेरी बैयत (खलीफा मानने की शपथ) लेने के लिए सबको हुक्म दे दिया गया?"

"अमीर के हुक्म देने की जरूरत न थी, कल सूर्योदय से पहले सारा शाम बैयत लेने को हाज़िर हो जायेगा." जुहाक ने अर्ज किया.

"जुहाक, कोई कासिद (हरकारा) मदीने भेजा गया?" यज़ीद ने नया प्रश्न किया.

"अमीर के हुक्म का इंतजार था."

"जुहाक, कसम है अल्लाह की, मैं इस विलंब को कभी क्षमा नहीं कर सकता. फौरन कासिद भेजो और वलीद (मदीने का सूबेदार) को सख्त ताकीद लिखो कि वह हुसैन से मेरे नाम पर बैयत ले. अगर वह इनकार करें तो उन्हें कत्ल कर दे. इसमें जरा भी देर न होनी चाहिए... जुहाक, तुम जानते हो कि हुसैन कभी मेरी बैयत कबूल नहीं कर सकता. यह मुहाल है. असंभव है. हुसैन कभी मेरी बैयत नहीं लेगा, चाहे उसकी बोटियां काट-काट कर कौवों को खिला दी जायें. अगर तकदीर पलट सकती है, अगर दरिया का बहाव पलट सकता है, अगर समय की गति रुक सकती है, तो हुसैन भी मेरे नाम पर बैयत ले सकता है. मगर बैयत ले चुकने के बाद मुमकिन है, तकदीर पलट जाये, दरिया का बहाव पलट जाये, समय की गति रुक जाये, पर हुसैन दावा नहीं कर सकता. उससे बैयत लेने का मतलब ही यह है कि उसे इस जहान से रुखसत कर दिया जाये. हुसैन ही मेरा दुश्मन है. मुझे और किसी का खौफ नहीं, मैं सारी दुनिया की फौजों से नहीं डरता, मैं डरता हूं इसी निहत्थे हुसैन से. इसी हुसैन ने मेरी नींद, मेरा आराम हराम कर रखा है. अबू सिफियान की संतान हाशिम के बेटे को सिर न झुकायेगी. खिलाफत को मुल्लाओं के हाथों में फिर जाने देंगे. इन्होंने छोटे बड़ों की तमीज उठा दी. हर एक दहकान समझता है कि मैं खिलाफत की मसनद पर बैठने लायक हूं और अमीरों के दस्तरखान पर खाने का मुझे हक है. मेरे मरहूम बाप ने इस भ्रांति को बहुत कुछ मिटाया और आज खलीफा हो शान-शौकत में दुनिया के किसी ताजदार से शर्मिंदा नहीं हो सकता. जूते सीने वाले और रूखी रोटियां खाकर खुदा का शुक्र अदा करने वाले खलीफों के दिन गये. खजाना खोल दो और रियाया का दिल अपनी मुट्ठी में कर लो.. रुपया खुदा के खौफ को दिल से दूर कर देता है. सारे शहर की दावत करो. कोई मुजायका नहीं, अगर खजाना खाली हो जाये. हर एक सिपाही को निहाल कर दो. और अगर इतनी रियायतें करने पर भी कोई तुमसे खिचा रहे, तो उसे कत्ल कर दो..." खलीफा यज़ीद गुस्से और जोश में तकरीर फर्मा रहे थे. उनके दिमाग पर खौफे खुदा नहीं, खौफे हुसैन तारी था.

हुसैन हजरत अली और फातिमा जोहरा के बेटे और हजरत मुहम्मद के नवासे (नाती) थे. वे बड़े विद्वान, सच्चरित्र शांति-प्रिय, नम्र, उदार, सहनशील, ज्ञानी और धार्मिक पुरुष व अद्वितीय वीर थे, लेकिन राजनीतिक छल-प्रपंच और

कुत्सित व्यवहारों से अपरिचित थे. यजीद इन सब छलपूर्ण चालों में निपुण था. उसने अपने पिता अमीर मुआविया से कूटनीति की शिक्षा पायी थी. छली यजीद के सामने धर्मात्मा हुसैन की भला कब चल सकती थी और चली भी नहीं.

▣

यजीद का कासिद मदीना के हाकिम वलीद के पास पहुंचा. उसने खलीफा का खत वलीद को दे दिया. खत में लिखा था, "वलीद, हाकिम मदीना को ताकीद की जाती है कि इस खत को देखते ही हुसैन से मेरे नाम पर बैयत लें. अगर वे बैयत लेने से इनकार करें तो उन्हें कत्ल कर दें और उनका सिर मेरे पास भेज दें."

हुसैन उस समय मदीने के अपने पैतृक मकान में रहते थे. वलीद उनकी बहुत इज्जत करता था. उसे विश्वास था कि अगर वह हुसैन को बुलायेगा तो वे जरूर आयेंगे, लेकिन वह उनके साथ दगा नहीं कर सकता. वह धर्म संकट में था और अपने आप से कह रहा था, "खुदा वह दिन न लाये कि मुझे रसूल के नवासे के साथ यह घृणित व्यवहार करना पड़े. वलीद इतना बेदीन नहीं है, खुदा रसूल को इतना नहीं भूला है. मेरे हाथ गिर पड़ें इसके पहले कि मेरी तलवार हुसैन की गर्दन पर पड़े."

फिर भी वलीद को खलीफा यजीद का हुक्म मानना था, उसने निश्चय कर लिया कि वह हुसैन को बुलायेगा, लेकिन उन्हें कत्ल नहीं करेगा. वही उसने किया भी. हुसैन को बुलाया गया. हुसैन आये. बैयत की बात सुनकर हुसैन ने संजीदगी से कहा, "आज इस्लाम इतना कमजोर हो गया है कि रसूल का बेटा यजीद की बैयत लेने के लिए मजबूर हो?"

यजीद के विश्वासपात्र और वलीद के सहायक अधिकारी मरवान ने पूछा, "उनकी बैयत से आपको क्यों एतराज है?"

"इसलिए कि वह शराबी, झूठा, दगाबाज, हरामखोर और जालिम है. वह दीन के आलिमों की तौहीन करता है. जहां आता है, एक गधे पर एक बंदर को आलिमों के कपड़े पहनाकर साथ ले जाता है. मैं ऐसे आदमी की बैयत अख्तियार नहीं कर सकता."

मरवान गुस्से में तलवार खींचकर खड़ा हो गया, बोला, "कसम खुदा की, आप बैयत कबूल किये बिना नहीं जा सकते. मैं आपको कत्ल कर दूंगा." उसी समय हुसैन के चचेरे भाई अब्बास ने साथियों के साथ आकर उनकी जान बचायी.

▣

अब हुसैन के लिए मदीने में रहना खतरे से खाली नहीं था. किसी भी समय यजीद की फौजें उन्हें घेरकर कत्ल कर सकती थीं. उन्होंने अपने भाई अब्बास से कहा, "अब मदीने में हम लोगों का रहना कांटों पर पांव रखना है. भैया, शायद नबियों की औलाद शहीद होने ही के लिए पैदा होती है. शायद नबियों को भी होनहार की खबर नहीं होती, नहीं तो क्या नाना के मसनद पर वे लोग बैठते, जो इस्लाम के दुश्मन हैं और जिन्होंने सिर्फ अपनी गरज पूरी करने के लिए इस्लाम का स्वांग भरा है. मैं रसूल ही से पूछता हूं कि वह मुझे क्या हुक्म देते हैं? मदीने ही में रहूं या कहीं और चला जाऊं?"

मुहम्मद की मजार पर जाकर कहते हैं, "ऐ खुदा, यह तेरे रसूल मुहम्मद की खाक है और मैं उनकी बेटी का बेटा हूं. तू मेरे दिल का हाल जानता है. मैंने तेरी और तेरे रसूल की मर्जी पर हमेशा चलने की कोशिश की है. मुझ पर रहम कर और उस पाक नबी के नाते, जो इस कब्र में सोया हुआ है, मुझे हिदायत कर कि इस वक्त मैं क्या करूं?"

वे रोते हैं और कब्र पर सिर रखकर बैठ जाते हैं. एक क्षण में चौंककर उठ बैठते हैं और अब्बास से कहते हैं, "अब्बास, अब मैं लौटकर घर नहीं जाऊंगा. अभी मैंने ख्वाब देखा कि नाना आये हैं और मुझे छाती से लगाकर कहते हैं, "बहुत थोड़े दिनों में तू ऐसे आदमियों के हाथों शहीद होगा, जो अपने आपको मुसलमान कहते होंगे और मुसलमान न होंगे. मैंने तेरी शहादत के लिए कर्बला का मैदान चुना है, उस वक्त तू प्यासा होगा और तेरे दुश्मन तुझे एक बूंद पानी भी न देंगे. तेरे लिए यहां बहुत ऊंचा रुतबा रखा गया है, पर वह रुतबा शहादत के बगैर हासिल नहीं हो सकता. यह कहकर नाना गायब हो गये."

▣

हुसैन अपने परिवार और रिश्तेदारों के साथ मक्का चले गये, लेकिन यजीद की खूनी निगाहें उनका पीछा करती रहीं.

यजीद ने जियाद को कूफ़े का सूबेदार बना दिया था. उसने कूफ़े पहुंचते ही यजीद के विरोधियों का कत्लेआम शुरू कर दिया. कूफ़े की प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी. वहां के सरदारों ने हुसैन के प्रति वफादारी की शपथ ली और प्रजा की दर्दभरी दास्तान खतों के द्वारा हुसैन के पास पहुंचायी. हुसैन को कूफ़ेवालों पर जरा भी यकीन नहीं था, इसलिए वे नहीं गये. अंत में कूफ़ेवालों ने एक बेहद दर्दभरा खत लिखा, "अगर आप न आये, तो कल कयामत के दिन अल्लाहताला के हुजूर में हम आप पर दावा करेंगे कि या इलाही, हुसैन ने हमारे ऊपर अत्याचार किया था, क्योंकि हमारे ऊपर अत्याचार होते देखकर यह खामोश बैठे रहे. सब लोग फरियाद करेंगे कि ऐ खुदा, हुसैन से हमारा बदला दिला दे. उस समय आप क्या जवाब देंगे, खुदा को क्या मुंह दिखायेंगे?"

धर्मप्राण हुसैन ने कूफ़े जाने का फैसला कर लिया. जब वे कूफ़े के रास्ते में थे, कूफ़े के हालात बदल चुके थे. जियाद ने अत्याचार का असर होते न देखकर नरमी का रुख अपनाया. लोगों को वजीफे दिये, जागीरें बांटीं, सजाएं माफ कीं. कूफ़े वाले अपनी असलियत में आ गये. उनके दिल दगाबाज हो गये.

हुसैन के काफिले में सिर्फ 72 आदमी थे. चारों तरफ जियाद की फौजों ने नाकेबंदी कर दी थी. अब हुसैन सिर्फ कूफ़े की तरफ ही बढ़ सकते थे और बेखौफ बढ़ रहे थे. वे शहादत के लिए तैयार थे. उन्हें कर्बला के मैदान से आगे नहीं बढ़ने दिया.

जियाद ने साद को 'रै' की सूबेदारी का लालच देकर हुसैन से लड़ने वाली फौज का सिपहसालार बनाया. साथ ही धमकी भी दे दी कि अगर उसने किसी तरह की चालबाजी या दगाबाजी की तो उसकी जागीरें छीन ली जायेंगी और उसे तथा उसके सारे परिवार को कत्ल कर दिया जायेगा.

हुसैन को नदी से दूर खेमा गाड़ने के लिए मजबूर कर दिया गया. नदी पर सख्त पहरे बिठा दिये गये कि जो भी नदी से पानी लेने की कोशिश करे, उसे कत्ल कर दिया जाये. हुसैन का काफिला प्यास से तड़प उठा.

लड़ाई शुरू हो गयी. 72 आदमियों के मुकाबले में पच्चीस हजार की फौज थी. हुसैन का एक-एक साथी गिरता गया, लेकिन किसी ने पीठ पर घाव नहीं खाया. हुसैन के साथियों की संख्या बहुत कम रह गयी थी, तभी निर्वासित जैसी जिंदगी जी रहे भारतीय वीर साहसराय अपने सात भाइयों के साथ हुसैन की सहायता के लिए आ गये. पूरे दिन वे वीरता से लड़े. उन्होंने फौज के बहुत बड़े हिस्से का सफाया कर दिया. अंत में उन्होंने वीर गति पायी. हुसैन ने बड़े सम्मान के साथ हिंदू ढंग से उनका अंतिम संस्कार किया और कहा—'सच्चे मुसलमां थे ये."

एक एक कर हुसैन के सारे साथी शहीद हो गये. अब्बास बड़ी बहादुरी से लड़ते हुए मरे. अब्बास के बाद हुसैन के दोनों बेटे अली अकबर और अली असगर भी खेत रहे.

अब हुसैन रणक्षेत्र की ओर चले. उनके रणक्षेत्र में आते ही शत्रुओं में खलबली मच गयी, जैसे गीदड़ों में कोई शेर आ गया. हुसैन की तलवार लपकने लगी, चौंधा होने लगा, सिर कटने लगे. दुश्मन के छक्के छूट गये. हुसैन का प्यास से दम निकला जा रहा था और वे लड़ रहे थे.

यजीद और जियाद का खास विश्वासपात्र शिमर, हुसैन को कत्ल कर देने के लिए अपनी फौजों को ललकार रहा था.

लड़ते-लड़ते शाम हो गयी. हुसैन के बाजू थक गये. उन्होंने आखिरी नमाज पढ़ने का निश्चय किया. हुसैन नमाज के लिए झुके ही थे कि अशअस ने पीछे से आकर उनके कंधे पर तलवार चला दी. कीस ने दूसरे कंधे पर वार किया. हुसैन उठे और फिर गिर गये.

शिमर ने ललकारकर कहा "खलीफा यजीद ने हुसैन का सिर मांगा था, कौन यह फख्र हासिल करना चाहता है?'

एक सिपाही आगे बढ़ा. उधर हुसैन के एक भाई मुसलिम की छोटी बच्ची नसीमा खेमे से भाग कर आयी और हुसैन की पीठ पर हाथ रख दिये. सिपाही की तलवार चल चुकी थी, नसीमा के दोनों हाथ कट गये.

हुसैन की आंखों में रसूल का तेज उतर आया था. कोई भी उनसे नजरें नहीं मिला पा रहा था. तलवार उठने से पहले ही छूट कर गिर जाती थी.

अंत में शिमर, हुसैन के सीने पर चढ़ गया. हुसैन ने उससे पूछा, "तू मुझे पहचानता है?"

"हां, खूब पहचानता हूं, अली और फातिमा के बेटे और मुहम्मद के नवासे हो." शिमर ने ढिठाई से जवाब दिया.

"यह जानकर भी मुझे कत्ल करता है?" हुसैन ने शांत भाव से फिर पूछा.

शिमर और भी ढीठ हो गया. बोला, "मुझे जन्नत से जागीरें ज्यादा प्यारी हैं." और तलवार चला दी. हुसैन का सिर कटकर गिर गया. साद ने पश्चाताप में खुदकशी कर ली.

हुसैन के खेमों से रोने की हृदयविदारक आवाजें आने लगीं और बहुत से सिपाही भी आंखों पर हाथ रखकर बिलख उठे. □

प्रस्तुति : अवधनारायण मुद्गल

प्रेमचंद भूखों नहीं मरे...

पृष्ठ २९ से जारी

दयानारायण निगम को उन्होंने लिखा, "जागरण हफ्तावार' में खूब चपत पड़ रही है, मगर हिम्मत किये निकाले जाता हूं."

जैनेंद्र को लिखा, "पुरस्कारों पर विचार करना मैंने छोड़ दिया है. और मिल जाये तो ले लूं, पर उसी तरह जैसे पड़ा हुआ धन मिल जाये. आप या प्रसादजी पा जायें तो मुझे समान हर्ष होगा. आपको ज्यादह जरूरत है, तो ज्यादह खुश हूंगा."

पं. बनारसीदास चतुर्वेदी को एक पत्र में प्रेमचंद ने लिखा, "हंस' का भार बहुत नहीं है, पर 'जागरण' का भार असह्य हो गया है. मैं इसी चिंता में हूं कि किस प्रकार इस स्थिति से बच निकलूं? मुझे दो सौ रुपये माहवार का घाटा है. कब तक सह सकता हूं...यदि मुझे थोड़ा विज्ञापन मिल जाये तो शायद मैं इसे खींच सकूं. 'बंगाल केमीकल' बड़े पैमाने पर विज्ञापन करता है. 'बिड़ला ब्रादर्स' की पाटसन की मिलें भी हैं. ये भी खूब विज्ञापन करते हैं, और आप उनसे भी मेरी तरफ से कह सकते हैं. (मदन गोपाल: कलम का मजदूर.)

शरच्चंद्र और प्रेमचंद

मुंशीगंज में 1925 में बंगीय साहित्य सम्मेलन में शरच्चंद्र ने कहा था—"अंग्रेजी में 'आइडियालिस्ट', और 'रियालिस्ट' दो शब्द हैं. किसी ने आक्षेप किया है कि आधुनिक बांगला साहित्य अतियथार्थवादी होता जा रहा है. पर एक को छोड़कर दूसरा बनता है, ऐसा नहीं होता. कम से कम उपन्यास जिसे कहते हैं, वह तो दोनों के बिना संभव ही नहीं." ठीक यही बात प्रेमचंद ने जैनेंद्र को एक पत्र में लिखी, "रियलिस्ट' हममें से कोई भी नहीं है. हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता, बल्कि उसके वांछित रूप में ही दिखाता है. मैं नग्न यथार्थवाद, का प्रेमी नहीं हूं."

प्रेमचंद बकलम खुद

1. 'धनीजन पुण्य भी करते हैं, दान भी करते हैं, दुखी आदमियों पर दया भी करते हैं, देश में बड़ी-बड़ी धर्मशालाएं, सैकड़ों पाठशालाएं, चिकित्सालय, तालाब, कुएं उनके कीर्ति-स्तंभ रूप में खड़े हैं. उनके दान से सदाव्रत चलते हैं, अनाथों और विधवाओं का पालन होता है, साधुओं और अतिथियों का का सत्कार होता है, कितने ही विशाल मंदिर खुले हुए हैं, विद्या की उन्नति हो रही है. लेकिन उनकी अपकीर्तियों के आगे उनकी सुकीर्तियां अंधेरी रात में जुगनू की चमक के समान हैं, जो अंधकार को और भी गहन बना देती हैं. पाप की कालिख दान और दया से नहीं धुलती. नहीं, मेरा तो यह अनुभव है कि धनीजन कभी पवित्र भावों से प्ररित ही हो नहीं सकते.' (संग्राम, पृ. 189-90)

2. 'सिर्फ रुपया कमाना ही आदमी का उद्देश्य नहीं है. मनुष्यता को ऊपर उठाना और मनुष्य के मन में ऊंचा विचार पैदा करना भी उसका फर्ज है. अगर यह नहीं तो आदमी और पशु बराबर हैं.' (प्रेमाश्रम)

3. 'मेरा सिद्धांत है कि मनुष्य को अपनी मिहनत की कमाई खानी चाहिए, यही प्राकृतिक नियम है. किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों की कमाई को अपनी जीवनवृत्ति का आधार बनायें.' (प्रेमाश्रम, पृ. 163)

4. 'गवर्नमेंट कोई जरूरी चीज नहीं. पढ़े-लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाये रखने के लिए एक संगठन बना लिया है. उसी का नाम गवर्नमेंट है. गरीब और अमीर का फर्क मिटा दो और गवर्नमेंट का खात्मा हो जाता है.' (कर्मभूमि, पृ. 226)

5. 'मुझे तो अब इस डेमोक्रेसी में भक्ति नहीं रही...मेरा बस चले तो कौंसिलों में आग लगा दूं. जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है, और कुछ नहीं. चुनाव में वही बाजी मार ले जाता है जिसके पास रुपये हैं' (गोदान, पृ. 137-138.)

6. 'कर्तव्य क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान का भेद नहीं. दोनों एक ही नाव में बैठे हैं, डूबेंगे तो दोनों डूबेंगे, बचेंगे तो दोनों बचेंगे. (रंगभूमि पृ. 544).

7. 'भूमि या तो ईश्वर की है, जिसने इसकी सृष्टि की है या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है.' (प्रेमाश्रम)

8. डा. इंद्रनाथ मदान को 26 दिसंबर 1934 को लिखे पत्र का अंश—'हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूं. अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रांति होती है. मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना. इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुंचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है. जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती, क्रांति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह संदिग्ध है. हो सकता है कि सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीनकर तानाशाही घृणित रूप में हमारे सामने आ खड़ी हो. मैं शुद्धिकरण के पक्ष में तो हूं, उसे नष्ट करने के पक्ष में नहीं. यदि मुझे यह यह विश्वास हो जाता और मैं जान लेता कि ध्वंस से हमें स्वर्ग मिलेगा, तो मैंने ध्वंस की भी चिंता नहीं की होती.' □

गोदान : हमारे आज और कल की गाथा

होरी आज भी जलावतन है!

● रामदरश मिश्र

कोई भी रचना अपनी शक्ति खींचती है यथार्थ से, और यथार्थ सपाट या एक आयामी नहीं होता, वह संश्लिष्ट और जटिल होता है. इस संश्लिष्ट और जटिलता की निर्मिति में अंतर्विरोधों की बहुत बड़ी भूमिका होती है. समाज और मन की संरचना अनेक विरोधी तत्वों से होती है और उसकी प्रवृत्ति द्वंद्वात्मक है. व्यक्ति, व्यक्ति के रूप में भी और एक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में भी अंतर्विरोधों से ग्रस्त रहता है.

'गोदान' कृषक जीवन का औपन्यासिक दस्तावेज है. इसमें कृषक जीवन का यथार्थ अपनी अनेक बाहरी और भीतरी पर्तों के साथ उद्घाटित हुआ है. कृषक जीवन को इतनी गहराई से देखने का ही परिणाम है कि इस उपन्यास में यथार्थ का एकपक्षीय रूप नहीं उभरता—चाहे मनोवैज्ञानिक यथार्थ हो चाहे सामाजिक. मन से मन का, परिस्थितियों से परिस्थितियों का, परिस्थितियों से मन:स्थितियों का तनाव चलता रहता है. इसी क्रम में अंतर्विरोध उभरते हैं.

'गोदान' गांव के छोटे किसानों की व्यथा-कथा है. केंद्र में है होरी नामक किसान. किसान की स्थिति है उसका खेतिहर होना. खेती के साथ गाय का अपरिहार्य संबंध है. किसान की जीविका है खेती और खेती का मूलाधार है गाय. गाय किसान की संपत्ति भी है, स्वास्थ्य भी है और उसके धर्मप्राण मन की मां भी है. होरी अपने घर गाय रखना चाहता है.

उपन्यास के केंद्र में किसान है. उसके एक ओर विद्रूप सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था है, दूसरी ओर उसके अपने अंधविश्वास और रूढ़ि-पूजा हैं, तीसरी ओर उसके सारे मानवीय आचरण के साथ उसके छोटे-छोटे स्वार्थ, काइयांपन और ईर्ष्या-द्वेष हैं. इन सबके पारस्परिक तनाव से कृषक जीवन का यथार्थ बना हुआ है. प्रेमचंद इस बात को स्पष्ट रूप में पहचान रहे थे कि पैसा आज सारी व्यवस्था के केंद्र में है. यह पहचान 'गोदान' में सर्वाधिक सघन हुई है, और यह पैसा पारंपरिक मूल्यों, संबंधों, धार्मिक विश्वासों और मानवीय सोच से टकराकर व्यक्ति और समाज में अंतर्विरोध उत्पन्न करता है. किसान के जीवन को चूसने वाली उसके चतुर्दिक व्याप्त शक्तियां हैं—जमींदार (राय साहब) उसका कारिंदा (नोखेराम) पटवारी (पटेसरी) साहूकार (मंगरू और दुलारी) गंवई छोटे जमींदार (झिंगुरी सिंह) पुरोहित (दातादिन). ऊपर से ये सभी किसान के हितैषी हैं, क्योंकि ये सभी किसान को आड़े समय पर कर्ज देते हैं. ये सभी अपने-आप बने हुए किसानों के रहनुमा हैं, क्योंकि किसानों के गलत कामों पर दंड देते हैं. इनकी दृष्टि में मूल्य के नाम पर स्वार्थ होता है, पैसा होता है. मूल्य और अर्थ का, वाणी और आचरण का, भयानक अंतर्विरोध इनमें दिखाई पड़ता है. यह भी अंतर्विरोध ही है कि ये एक-दूसरे से कटे हुए हैं. किंतु किसानों के शोषण के समय एक हो उठते हैं.

मूल्य और आचरण का अंतर्विरोध देखने के लिए राय साहब का विश्लेषण किया जा सकता है.

लेखक ने राय साहब ही नहीं, खन्ना, मेहता, तंखा, मिर्जा, मालती आदि सभी के अंतर्विरोधों का उद्घाटन कर न केवल यथार्थ की जटिल पर्तों की पहचान उभारी है वरन् प्रकारांतर से उन पर व्यंग्य भी किया है, चोट भी की है. यानी वे उच्च वर्ग की असंगतियों का मात्र उद्घाटन नहीं करते, उन असंगतियों के अमानवीय रूप को रेखांकित भी करते हैं.

प्रेमचंद यथार्थ के तटस्थ चितेरे ही नहीं थे, वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अभिशप्त समाज के पक्षधर भी थे. उनकी पक्षधरता धीरे-धीरे अधिक कलात्मक बनती गयी और 'गोदान' में उसने प्रौढ़ता प्राप्त कर ली. यही वजह है कि 'गोदान' में किसान पात्रों की व्यक्तिगत तथा वर्गीय विसंगतियों या अंतर्विरोधों को बहुत तटस्थता से पहचाना गया है, लेकिन इस अंतर्विरोध के उद्घाटन से किसानों की बेबसी और यातना की नियति ही अधिक खुलती है. इसका कारण यह है कि यह वर्ग लगातार सुविधाभोगी वर्ग से दुहा गया है, अशिक्षित, अंधविश्वासी और अभावग्रस्त बनाया गया है. वह मानवीय तो है, करुणा संपन्न तो है, भोला-भाला तो है, किंतु अपने आभावों के कारण छोटे-छोटे स्वार्थों, छोटी-छोटी अमानवीय हरकतों, छोटे-छोटे झूठ और राग-विराग से ग्रस्त हो जाता है.

सामान्य धारणा है कि किसान बहुत भोला और निरभिमानी होता है. किंतु प्रेमचंद ने उसे एक सही मनुष्य के रूप में देखा, जिसमें मानवीय गुणों के साथ दुर्गुण भी मौजूद हैं. भोला से भेंट होने के बाद गाय देखकर होरी का जी ललचा जाता है. वह भीतर ही भीतर उसे पाने की लालसा रखता है और—'भोला दूसरा विवाह करना चाहता है,' यह जानकर वह उसकी कमजोरी का फायदा उठाना चाहता है. वह उसे आश्वस्त करता है कि उसकी शादी करा देगा, अर्थात होरी अधेड़ भोला के हाथ एक जवान स्त्री रूपी गाय सौंपकर उसकी गाय लेने का सौदा कर लेता है. लेकिन जब उसे मालूम होता है कि भोला भूसे के अभाव में गाय बेच रहा है तो उसकी नैतिकता जाग उठती है और गाय लेने के बदले भोला को मुफ्त में भूसा देना चाहता है.

होरी के जीवन में अंतर्विरोधों की एक लंबी शृंखला है. वह एक ओर अपने भाइयों के सुख और प्रतिष्ठा के लिए

प्रेमचंद का प्रथम हिंदी उपन्यास 'प्रेमा' : एक विज्ञापन

प्रेमचंद का प्रथम हिंदी उपन्यास 'प्रेमा' उनके उर्दू उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' का हिंदी अनुवाद था. इस उपन्यास का विज्ञापन हिंदी की अनेक पत्रिकाओं में आया. 'सरस्वती' के 1909 के अंकों इसका नियमित विज्ञापन प्रकाशित हुआ. यहां प्रस्तुत है उस विज्ञापन का प्रारूप—

प्रेमा

अर्थात

दो सखियों का विवाह

यह उपन्यास एकदम नया है, मनोहर है, शिक्षाजनक है और बड़ी चित्ताकर्षक भाषा में लिखा गया है. इस उपन्यास को पढ़ते पढ़ते कभी देशदशा पर रोना आता है, आंसू बहाने पड़ते हैं, कभी किसी के प्रेम में विह्वल होना पड़ता है और कभी इतना वीर रस आ जाता है कि एकदम रोमांच हो जाता है. कुछ बड़ी बात नहीं है. २३६ पृष्ठ की पुस्तक की कीमत सिर्फ दस आने ही तो है. झट मंगाइए और 'प्रेमा' के सच्चे प्रेम की कथा पढ़कर अपना मनोरंजन कीजिए.

मिलने का पता—**मैनेजर, इण्डियन प्रेस, प्रयाग**

अपना सब कुछ लुटा देता है तो दूसरी ओर अपने भाइयों से छिपाकर बांस के कुछ पैसे बचाना चाहता है. एक ओर वह धर्मभीरु है, सामाजिक रीति-रिवाजों से डरता है तो दूसरी ओर वह मानवीय स्तर पर झुनिया को ग्रहण करता है. एक ओर वह करुणाशील है, बड़ों के सामने दब्बू है तो दूसरी ओर धनिया को बुरी तरह पीटता है यानी पत्नी के सामने बहादुर बन जाता है, एक ओर वह नैतिकता में विश्वास करता है, दूसरी ओर मजबूर होकर अपनी बेटी बेचता है. ऐसे अनेक छोटे-छोटे प्रसंग हैं जो उसके अंतर्विरोधों को व्यक्त करते हैं. इन अंतर्विरोधों को दो स्तरों पर देखनाहोगा. (1) व्यक्तिगत स्तर पर (2) वर्गीय स्तर पर. प्रेमचंद ने होरी, धनिया, भोला, गोबर आदि सभी को व्यक्ति रूप में भी देखा है और उनके व्यक्तिगत अंतर्विरोधों को भी उघाड़ा है. होरी की चर्चा ऊपर की गयी है. धनिया स्वभावतः एक ठेठ ऊर्जावान ग्रामीण स्त्री है—चीजों को सीधा देखने वाली. लेकिन लेखक ने उसे एक ही दिशा में नहीं चलाया है, उसके मानसिक आवर्तों (जो अंतर्विरोधी तत्वों से बने हैं) को प्रायः उद्घटित किया है. किसानों की वर्गीय चेतना के अंतर्विरोध को होरी और धनिया या गोबर के माध्यम से समझा जा सकता है. उसकी चेतना का एक अंश है होरी, जो जी तोड़कर मेहनत करता है और अपनी धर्मभीरुता के कारण अपना सब कुछ धूर्तों के आगे गंवाता रहता है. दूसरा अंश है धनिया (या गोबर) जो धर्म या पंचायत के खोखलेपन को पहचानती है, उसके निर्णय को धूर्तों का निर्णय मानती है, फिर भी उसके प्रभाव से उबर नहीं पाती. कितना बड़ा अंतर्विरोध है—जो धनिया दातादीन के धार्मिक निर्णय को झूठ मानती है, वही होरी के मरने के समय अपने दिन भर की कमाई उसी दातादीन को देकर गोदान करती है. स्थितिगत अंतर्विरोधों की तो मानों श्रृंखला है गोदान में. 'गोदान' अपनी यथार्थ-जन्य शक्ति और मानवीय दृष्टि के कारण हमें निहायत अपना मालूम पड़ता है और आनेवाली पीढ़ियों को भी अपना मालूम पड़ता रहेगा.

'गोदान' अपना लगता है, इसका यह अर्थ ही है कि यह रचना आज भी प्रासंगिक है. प्रासंगिकता, विषय और समस्या की समरूपता से आ जाती है और उनके प्रति रचनात्मक व्यवहार की गहराई से भी. 'गोदान' का विषय कृषक जीवन है, उसकी समस्याएं कृषक जीवन की हैं. भारत मूलतः कृषकों का देश है, उसकी मुख्य समस्या कृषक जीवन संबंधी समस्या है और सच बात तो यह है कि भारत का कोई लेखन भारतीय लेखन नहीं हो सकता, जिसमें किसानी जीवन की गंध न हो. प्रेमचंद ने 'गोदान' में इस जीवन को बहुत गहराई से उद्घाटित किया है, उसकी संश्लिष्ट समस्याओं की सही पहचान की है. कृषक जीवन आज भी भारतीय जीवन के केंद्र में है और आजादी के बाद भी उसकी समस्याएं उसी तरह जटिल हैं. आज भी होरी है. उसकी विवशताओं, अभावों और संघर्षों को देखते हुए लगता है कि वह आज भी जलावतन है. 'गोदान' आज भी भरतीय किसानों का उपन्यास लगता है. लेकिन इससे बड़ी बात है यथार्थ के प्रति रचनात्मक व्यवहार की. प्रेमचंद ने अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद यथार्थ को उसकी संश्लिष्टता और पूरे अंतर्विरोध में देखा है और ऐसा करते हुए भी वे मानवीय मूल्यों का प्रभाव उत्पन्न करने में कहीं नहीं चूकते. 'गोदान' आज के सामाजिक यथार्थधर्मी उपन्यासकारों को अपनी श्रेष्ठ रचनाधर्मिता से न केवल प्रभावित करता है बल्कि उन्हें चुनौती भी देता है. □

● बंबई में फिल्म अनुबंध पर हस्ताक्षर करते हुए प्रेमचंद

● प्रेमचंद के 'सेवासदन' पर तमिल में बनी फिल्म की नायिका—शुभलक्ष्मी

सफल कहानियों पर असफल फिल्में

और यहीं मुझसे भूल हुई

अमृतराय से हुई बातचीत में प्रेमचंद की फिल्मों पर भी चर्चा चली, जो सवाल जवाब के रूप में प्रस्तुत है

● प्रेमचंदजी की जितनी कहानियां फिल्मायी गयीं, वे आपकी दृष्टि में कैसी, कितनी ठीक-ठाक थीं, उस पर आपके क्या विचार रहे. एक कहानी सत्यजित राय ने भी फिल्मायी. उस संदर्भ में कोई बहुत अच्छी राय हिंदी वालों की नहीं बनी. तो अच्छी कहानियों पर अच्छी फिल्में बन ही नहीं सकतीं, क्या कहना है आपका?

★ अच्छा सवाल आपने पूछा है. देखिए, प्रेमचंद की कहानियों पर अब तक जो चीजें बनी हैं, उनमें 'सेवासदन' जो 'बाजारे हुस्न' के नाम से बंबई में बनी. जुबेदा उसमें बनी थी सुमन. मैंने वह तस्वीर देखी नहीं. जानता नहीं. बाद में तमिल में 'सेवासदन' बनी तो शुभलक्ष्मी उसमें सुमन बनी थी, आज की शुभलक्ष्मी. वह किसी हद तक अच्छी बनी. फिर 'गोदान' बनी हिंदी में. यह फिल्म भी नाकाम फिल्म बनी, हालांकि उस पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि उसमें कहानी के साथ कुछ न्याय नहीं किया गया. असल में वह 'गोदान' का इलस्ट्रेशन है, 'गोदान' की फिल्म नहीं. उसके बाद 'गबन' बनी. आपको यकीन नहीं होगा, उसके राइट्स मैंने ही दिये थे, लेकिन मैंने 'गबन' बहुत दिनों तक देखी नहीं.

● क्यों?

★ पता नहीं, शायद मौका नहीं मिला, लेकिन शायद बरसों बाद देखने को मिली, लेकिन अच्छी नहीं लगी. अब हम आते हैं पहले के जमाने में बनी एक कामयाब तस्वीर 'हीरा-मोती' पर, जिसे कृष्ण चोपड़ा ने बनाया था, जो 'दो बैलों की कथा' पर आधारित थी. उसको मैं अच्छी फिल्म मानता हूं. अब आइए 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'कफन' पर. 'शतरंज के खिलाड़ी' सत्यजित राय ने हिंदी में और 'कफन' तेलुगू में मृणाल सेन ने बनायी. सबसे पहले मैं आपको यह कहके चौंका दूं कि मैं 'शतरंज के खिलाड़ी' को अच्छी तस्वीर मानता हूं. ('शतरंज के खिलाड़ी' पर पाठक 'सारिका' के 1978 के मई अंक : दो में राजेंद्र यादव और नेत्रसिंह रावत की टिप्पणियां पढ़ चुके हैं.)

● आप उसे अच्छी फिल्म इसलिए तो नहीं मानते हैं कि उसे सत्यजित राय जैसे डायरेक्टर ने डाइरेक्ट किया और बनाया है?

★ नहीं, आप इतने दिनों में भी मुझको नहीं जान पाये. वैसे मैं बहुत छोटा हूं; मगर कोई बड़ा नाम मुझे आतंकित नहीं कर सकता. ...कहीं कोई तोप बनकर मेरे सामने आये तो मैं फिर अपने आपको एक छोटी-मोटी तोप समझता हूं. मुझको लगता है कि उस तस्वीर के साथ बहुत अन्याय हुआ है. मैं बहुत साफ तरीके से इस बात को कह रहा हूं. उसके खिलाफ जानबूझकर एक आक्रमण माउंट किया गया, जिससे कि सत्यजित राय हिंदी फिल्मों में न आयें. आपको मालूम है कि फिल्म वितरण व्यवस्था जिन लोगों के हाथों में है, वह एक तरह से डिक्टेटर हैं कि क्या चीज बने और क्या न बने. उन्हीं के हाथों में सब अच्छे-अच्छे सिनेमा हाल, थियेटर वगैरह हैं. नतीजा यह हुआ कि उनके चलते उसको कहीं अच्छा हाल नहीं मिला. इलाहाबाद में 'पुष्पराज' नाम का एक बहुत ही फटीचर हाल है, स्टेशन के पास. वहां वह दिखायी गयी. लिहाजा उस हाल में जब मैंने वह तस्वीर देखी तो कुछ अच्छी भी नहीं लगी. उसके बाद अभी जब मैं दुबारा कलकत्ता गया था, तब बंगाल सरकार के इन्फार्मेशन डिपार्टमेंट के थियेटर में देखना हुआ, तब वह अच्छी लगी थी. आलोचना यह की गयी कि कहानी बदल दी गयी. मैं समझता हूं कि कहानी का अंत तो बदला है, उन्होंने,

लेकिन बहुत ही कम.

● ऐसे बदलने को आप मान्यता देते हैं या नहीं?

★ बदलना तो पड़ता ही है. बदला तो उन्होंने रवींद्रनाथ ठाकुर की कहानी को भी. क्या लेना, कैसा लेना, इतना तो अधिकार आपको देना ही पड़ेगा. और बदला क्या है? बदला यही है कि कहानी के अंत में मीर और मिर्जा तलवारें छपाछप चलाते हैं. दोनों मर जाते हैं और फिल्म में मरता कोई नहीं. केवल एक गोली चलती है जो कि क्रास करती हुई चली जाती है और तात्कालिक वजह है कि एक, दूसरे की पत्नी के कुछ गलत संबंधों की ओर एक इशारा करता है. इसे उन्होंने जिस तरह बदला है, इससे इंफैसिस इतना शिफ्ट हो गया है कि अपने बादशाह को गिरफ्तार होकर जाते देख मीर और मिर्जा में कोई रंगत नहीं आती, जबकि वे एक शतरंज के बादशाह के लिए लड़कर मर मिटे. तब उससे जो कंट्रास्ट पैदा होता है, वह कंट्रास्ट इस तस्वीर में नहीं दिखा. दरअसल यह कहानी पीरियड रिकांस्ट्रक्शन की कहानी नहीं है, लेकिन फिल्म पीरियड रिकांस्ट्रक्शन की तस्वीर बनकर रह गयी है.

कहानी सन 25 के आसपास की लिखी गयी है, जब समाज बिखराव में आता है और हिंदू-मुसलमान दंगे जगह-जगह होते हैं. उसकी अन्योक्ति यही है कि तुम गुलाम हो, तुम आपस में लड़ रहे हो और तुम्हें मिलकर कुछ और करना चाहिए, देश की मुक्ति के लिए.

● आपने जब राइट्स दिये तो जानते थे कि राय साहब हिंदी उतनी नहीं समझते, जैसा कि वह खुद कहते रहे हैं. थोड़ी सी एहतियात आपकी ओर से बरती जानी चाहिए थी. उन्हें इस एलेगरी को समझा देते?

★ उन्होंने मुझसे राइट्स मांगे और मैंने राइट्स दिये. मैं अगर उनके साथ बनाने में किसी प्रकार से संयुक्त होता तो शायद अपनी बातें अपने ढंग से सामने ला सकता था. मैंने कुछ संकेत इस तरह दिये थे, पर उन्होंने किसी कारण से वह हिट नहीं लिया. मैंने भी सोचा, ठीक है, आप तस्वीर बनाना चाहते हैं, बनाइए. और यहीं मुझसे भूल हुई. जहां तक 'कफन' की बात है, मृणाल जब आये थे तो इस कहानी को मैं जिस तरह देखता हूं, वैसा मैंने उनसे कहा था कि यह कहानी अभावों के बीच जूझते हुए आदमी की कहानी है. एक डीह्युमनाइजेशन की कहानी है. उन्होंने जब यह तस्वीर बनायी तो अपने घीसे को एक ऐसे बौद्धिक चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया, जोकि इस सामाजिक व्यवस्था में काम न करने को अपना जीवन-दर्शन बनाता है, क्योंकि यह सामाजिक व्यवस्था वस्तुतः इसी तरह के पैरासाइट्स को जन्म देने वाली है. और मुझे इस बात की खुशी है कि मृणाल ने बहुत अच्छी तरह उसको लिया. दोनों तस्वीरें सीरियस तस्वीरें हैं और यूं डिसमिस करने वाली नहीं हैं. □

तेलुगू फिल्म 'ओका ओरी कथा' की बुधिया के रूप में ममता शंकर

सेल्यूलाइड पर दो नाकारे

मृणाल सेन ने तेलुगू में 'कफन' पर 'ओका ओरी कथा' नाम से फिल्म बनायी है, जिसे हिंदी में डब किया जा रहा है. कुछ आरोप हैं फिल्म के अंत पर. देखें, मृणाल सेन इस पर क्या कहते हैं?

"जो दिन-रात काम करते हैं, वे भी भूखों मरते हैं तो मैं क्यों काम करूं. बिना काम किये ही भूखा रहूंगा." 'कफन' का यह घीसू मुंशी प्रेमचंद की लेखनी से निकल प्रख्यात फिल्मकार मृणाल सेन की 'ओका ओरी कथा' (तेलुगू) एवं 'एक गांव की कहानी' (हिंदी) फिल्म में माधौ को बस एक ही शिक्षा देता है—"बुद्धू साला गधा बन, खट खट भूखा मरे. पैसे वाला जमींदार बन, बैठा बैठा मजा करे." . . .और साथ ही साथ वह उससे कहता है—"बेटा, तू काम के चक्कर में मत पड़. एक बार काम के चक्कर में पड़ा तो बस इसी में ही घूमता रहेगा." प्रेमचंद ने बाप-बेटा दोनों को बहू के कफन के लिए मांगे गये पैसों से ताड़ी पिलाकर बेहोश कर दिया, लेकिन मृणाल सेन ने दोनों को समकालीन व्यक्ति बना दिया.

मृणाल सेन के साथ कहानी के इस अंतिम पक्ष को लेकर मेरी उनसे जब बातचीत हुई, उन्होंने कहा, "मैं चाहता था कि मुंशीजी ने जो भी सोचकर इस कथावस्तु को शब्दांतरित किया हो, मैं उसका सेल्यूलाइड पर विस्तृत रूप समकालीन अवस्थाओं को लेकर करूं. प्रेमचंद अगर आज जीवित होते तो वे 'कफन' को किस दृष्टिकोण से देखते, उसे ही मैंने दिखाने का दुस्साहस किया है. मैंने दोनों की मुट्ठियों में पैसा भर उन्हें उस नशे का एहसास दिलाया कि इससे तुम सब कुछ पा सकते हो, लेकिन मानवीय संबंधों को नहीं. मैं इसे 'कफन' के साथ अन्याय नहीं मानता, बल्कि समयगत सच्चाई मानता हूं." □

● प्रस्तुति : सोमेंद्रनाथ

'गोदान' जैसे उत्कृष्ट उपन्यास पर बनी फिल्म पिट गयी. सत्यजित राय जैसे निर्देशक के बावजूद 'शतरंज के खिलाड़ी' व्यावसायिक सफलता नहीं पा सकी. फिल्मों में काम करने वाले लोग प्रेमचंद के बारे में क्या कहते हैं, जानने के लिए प्रस्तुत है—यह बातचीत इनके साथ-साथ विश्वविख्यात चित्रकार बेंद्रे, मराठी के प्रखर संभावनाशील लेखक अरुण साधू, गुलशन नंदा तथा गुजराती लेखक और पत्रकार मनुभाई मेहता के भी विचार यहां दिये जा रहे हैं.

प्रेमचंद के बारे में फिल्मी सितारे

● चित्रा मुद्गल

● शशिकला

वे अत्याधुनिक विचारधारा के लेखक थे

"बहुत छोटी थी. . .तभी मुंशी प्रेमचंद को पढ़ा था. तब शरतचंद, रवींद्रनाथ टैगोर, मुंशी प्रेमचंद मेरे पसंद के लेखक थे. बाद में मैं जब फिल्मों में आयी, मैंने उनके बहुचर्चित उपन्यास पर बनी फिल्म 'गोदान', जिसके निर्माता-निर्देशक त्रिलोक जेटली थे, में छोटी-सी भूमिका भी की—मालती का रोल. आम फिल्मों से हट कर थी यह फिल्म. कितने 'नेचुरल' चरित्र थे . . .निर्देशक ने भी बड़ी कोशिश की थी कि वे चरित्र, जो मुंशी जी के उपन्यास में बड़े सहज और सजीव रूप से उभरे हैं, उन्हें पर्दे पर भी हूबहू जीवित कर सकें.

फिल्म नहीं चली. क्यों? शायद इसलिए कि. . .एक तो उपन्यास बहुत बड़ा है, बहुआयामी है और संभवतः इस कैनवास को वे संतुलित रूप से 'स्क्रिप्ट' में पिरो नहीं पाये.

मालती इस उपन्यास में एक समाज सेविका है और जिस जमाने में मुंशी जी ने यह उपन्यास लिखा होगा, संभवतः उन्नीस सौ पैंतीस, छत्तीस या इसके आगे पीछे का समय रहा होगा इस उपन्यास का, पर कितना 'बोल्ड' चरित्र है मालती का! मालती और मालती के ब्वाय-फ्रेंड मेहता के प्रेम-प्रकरण . . .उस जमाने में. .मुझे हैरानी होती है. . जब लड़कियों का घर से निकलना वर्जित था . .उस समय मालती का गांव पहुंचकर समाज सेवा करना और रूढ़िग्रस्तता को नकार कर अपनी स्वीकृतियां जीना!. . .मालती का चरित्र मैं कभी नहीं भूलूंगी. उनके महिला पात्र कितने जागरूक थे.

'टीन एज' के कथाकार मुझे शरत लगते हैं तो 'मैच्योर एज' के लेखक प्रेमचंद. इतना 'मैच्योर' लेखक संभवतः हिंदुस्तान में दूसरा नहीं है.

उनकी कहानियों या उपन्यास को जब भी फिल्म वाले उठायें, यह जरूरी है कि कहानी का प्रवाह पर्दे तक आते-आते न टूटे. मैंने रे जैसे महान निर्देशक की फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' देखी और मुंशी जी की कहानी भी पढ़ी है, मगर फिल्म में कहानी टुकड़े-टुकड़े लगती है. प्रवाह नहीं है, जबकि कहानी पढ़ते समय हमें बड़ा धारदार प्रवाह महसूस होता है. अब आप ही सोचिए. . . जब रे जैसे सिद्धहस्त निर्देशक इस प्रयास में असफल रहे तो. . .खैर." वे आशान्वित स्वर में कहती हैं, "प्रेमचंद के लेखन में विपुल कथाभंडार हैं. उनकी कहानियों पर फिल्में बननी चाहिए, बनेंगी जरूर. आज अच्छी कहानियों की मांग शुरू हो गयी है फिल्मों में. और वक्त बदलेगा." ▣

● शबाना आजमी

वे बहुत बड़े साहित्यकार थे

"मुंशी प्रेमचंद!" मेरे नाम भर लेते ही शबाना की आंखों में श्रद्धा और गर्व उभर आता है. जोश के साथ कहती है, "उन्हें कौन नहीं जानता! . . .अब्बा तो उनसे, उनकी राइटिंग्स से इस कदर प्रभावित हैं, इस कदर. . . वे मुंशी जी की बहुचर्चित कहानी 'ईदगाह' का नाट्य-रूपांतर भी करना चाह रहे हैं."

अब्बा! यानी मशहूर शायर कैफी आजमी. कैफी साहब जैसे संवेदनशील शायर के मन में मुंशी जी

के प्रति इस हद तक लगाव स्वाभाविक है, मगर मैं शबाना से शबाना के विचार जानना सुनना चाहती थी. उसे उसकी ओर मुखातिब करती हूं,"सवाल है, तुम क्या, कितना और किस रूप में जानती हो?"

"मुंशी प्रेमचंद हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े साहित्यकार हैं, इस रूप में. दरअसल मेरी शिक्षा एक मिशनरी स्कूल में हुई है. जहां हिंदी मैंने एक भाषा के रूप में पढ़ी...और हिंदी की किताब में जो उनकी कहानियां थीं—'बड़े भाई साहब' व 'कफन.' उन्हें पढ़कर मैं उनसे बेहद प्रभावित हुई. सच कहूं तो मिशनरी स्कूल के 'रिफाइंड' वातावरण में मुंशी जी की कहानी ने जिस एहसास से भरा, वह ठीक वैसा ही था, जैसे परदेस में एकाएक किसी देशवासी से मुलाकात हो जाये. सीधे सीधे कहना, जो कहना है. उसका दिमाग पर असर होता था. उन की उन कहानियों में आम जिंदगी है. उनके पास आम लोग हैं. वे अपनी जमीन की गंध से जोड़ते हैं और सोचने पर विवश करते हैं."

"उसके बाद?"

"उसके बाद प्रभावित होने के बावजूद उन्हें अधिक नहीं पढ़ पायी."

'शतरंज के खिलाड़ी' में शबाना ने काम किया है, मैंने जानना चाहा कि तब शबाना को कैसा महसूस हुआ?

"मैं इस बात से अभिभूत नहीं थी कि मुझे मुंशी प्रेमचंद की कृति पर बन रही फिल्म में काम करने का अवसर मिल रहा है, फ्रैंकली स्पीकिंग...मैं इस बात से बेइंतहा 'थ्रिल्ड' थी कि मुझे विश्व की एक महान फिल्मी हस्ती सत्यजित राय के साथ काम करने का अवसर मिल रहा है. अवसर मिले तो मैं प्रेमचंद के महिला पात्रों को अभिनीत करना अपना गौरव समझूंगी." ▣

• बिंदू

प्रेमचंद : सुना ही ज्यादा है

परदे पर बहुत कम कपड़े पहनने वाली आकर्षक बिंदू अपने महलनुमा घर में एक आम भारतीय महिला की तरह सरसरापा लिबास में लिपटी हुई मिली. चेहरे पर पसरी शिष्ट मुस्कान ने पल भर तो मुझे स्तंभित कर दिया! परदे की खलनायिका, नायिका के अभिजात्य में.

खैर..स्पष्टवादी बिंदू ने मुंशी जी के विषय में अपनी स्थिति स्पष्ट की. "क्या कहूं, उनके बारे में, सुना ही ज्यादा है...

...सच तो यह है कि मैंने उन्हें बहुत कम पढ़ा है. मुश्किल से दो या तीन कहानियां. वे भी...शायद मेरी सहेली ने सुझायी थीं कि इन्हें पढ़कर देखो. साहित्य पढ़ने में मेरी अधिक दिलचस्पी नहीं है. हां, अगर कोई किसी अच्छी किताब का जिक्र कर दे तो मैं उसे पढ़ लेती हूं. और फिर...अब तो इतनी अधिक व्यस्तता है."

"जो भी पढ़ी हैं, क्या वे याद हैं? और यह भी कि कैसी लगी थीं वे कहानियां?"

"'दो बैलों की जोड़ी' थी एक तो...और... 'मैली चादर' शायद! जो दो दोस्तों की कहानी थी. दोनों ही कहानियां मुझे बहुत अच्छी लगी थीं" ▣

• विजयेंद्र घाड़गे

सौ साल बाद भी वे पढ़े जाते रहेंगे...

युवा नायक विजयेंद्र घाड़गे से मुंशी प्रेमचंद के बारे में जानने की इच्छा व्यक्त की तो सोचा, कहीं कन्धे उचका कर उनके विषय में अनभिज्ञता न प्रकट कर दें. मेरा ऐसा सोचना गलत भी तो नहीं है. आज की युवा पीढ़ी, विशेषकर जो महानगरों और फिल्म इंडस्ट्री की दुनिया में बसती है, वह अंग्रेजी के 'बेस्ट सेलर' पढ़ना अपना शौक नहीं, कर्तव्य समझती है. मगर खूबसूरत व्यक्तित्व से समृद्ध युवा नायक विजयेंद्र घाड़गे ने मान्यता के विपरीत प्रेमचंद का नाम लेते ही, बड़े गर्व से बताया कि वे मुंशी प्रेमचंद को जानते ही नहीं, हिंदुस्तान का एक महान कथाशिल्पी भी मानते हैं, क्योंकि उनकी शैली में ऐसी सादगी थी...कथा प्रस्तुति में ऐसी पकड़ थी कि वे कहानियां मन को बड़े गहरे तक छू लेती हैं. मस्तिष्क को बुरी तरह झकझोर देती हैं. दूसरी बात यह कि जिस जमाने में वे लिखी गयीं, उस नजरिये से देखा जाये तो बड़ी आधुनिक विचारधारा लेकर चली हैं वे कहानियां. सोशली कांशियस, पालिटिकली कांशियस हैं उनकी रचनाएं. 'नमक का दरोगा' और ....अछूतों के ऊपर लिखी गयी कहानीऽऽ...खैर ...इसमें दो राय नहीं हैं कि आज से सौ साल बाद भी वे बड़े चाव से पढ़े जाते रहेंगे. ▣

तो आप उन प्रेमचंद के बारे में बात कर रही हैं

टीना, युवा फोटोग्राफर राकेश श्रेष्ठ के साथ विभिन्न मुद्राओं में तस्वीरें खिचवाने में व्यस्त थी. मुंशी प्रेमचंद के बारे में जानना चाहा तो बोली.

• टीना मुनीम

"आय डोण्ट नो हिम." कंधे उचके और चेहरे समेत, चेहरे को जबरन ढंक रहे बालों ने हौले से झटका खाया, "हू वाज ही?"कुतूहल पसरा टीना की आंखों में.

मैं यह सोचने में उलझ गयी कि आगे क्या और कैसे पूछूं, जब वह कुछ जानती ही नहीं. जानेगी भी कैसे! उसकी अभिरुचियां फैशन की दुनिया में बसती हैं...पर एकाएक खयाल आया कि उस ने सत्यजित राय की बहुचर्चित फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' के बारे में जरूर सुना होगा. या हो सकता है कि फिल्म भी देखी हो. और हो सकता है इसी बहाने उसे उन्हें जानने का मौका मिला हो. मेरे प्रश्न पर उसका उत्तर था, "ओऽऽ अ! तो आप उन प्रेमचंद के बारे में बात कर रही हैं...सुना है, वे हिंदी के ग्रेट स्टोरी राइटर थे." ▣
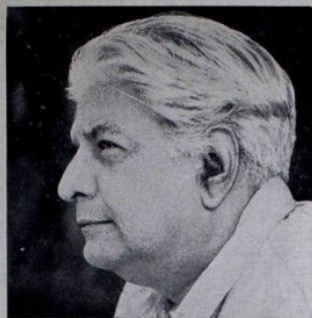
• बेंद्रे (प्रख्यात चित्रकार)

मैं शर्मिंदा हूं

"हालांकि मैं मध्य प्रदेश का हूं और हिंदी मेरी मातृ भाषा रही है, मगर मेरी सारी पढ़ाई-लिखाई मराठी में हुई है. और...मुंशी प्रेमचंद के बारे में...उनके साहित्य के विषय में विशेषतः—पूरे आदर के साथ कहना चाहूंगा कि मैंने उन्हें लगभग न के बराबर ही पढ़ा है.

बहुत साल...बरसों हो गये, उनकी एक कहानी पढ़ी थी. उस कहानी के संदर्भ में अब इतना भर याद है, कहानी बड़ी 'दृष्टि टचिंग' थी. संभवतः एक उपन्यास भी पढ़ा है उनका. ठीक से उस के बारे में भी याद नहीं. बस, इतना जरूर जानता हूं कि वे हिंदी साहित्य के प्रख्यात रचनाकार हैं और उन्होंने समाज के उस वर्ग को अपनी रचनाओं का विषय बनाया, जो हमेशा से उपेक्षित-दलित रहा था.

ऐसा नहीं था कि साहित्य पढ़ने में मेरी रुचि नहीं थी लेकिन चित्रकला की दुनिया में डूबा तो फिर रंगों की दुनिया में खो गया...जहां मेरी अपनी दुनिया थी...साहित्य से नाता ही टूट गया! उन्हें न पढ़ पाने के लिए मैं शर्मिंदा हूं." ▣

प्रेमचंद की रचनाएं : छह

बांसुरी

रात ज्यादा आ गयी थी. अष्टमी का चांद ख्वाबगाह (शयनागार) में जा चुका था. दुपहर के कंवल की तरह साफ़ी शफ्फाफ़ (अत्यंत निर्मल) आसमान में सितारे खिले हुए थे. किसी खेत के रखवाले की बांसुरी की आवाज, जिसे दूरी ने तासीर, सन्नाटे ने सुरीलापन और तारीकी (अंधकार) ने रूहानियत की दिलकशी बख्शी थी, यूं कानों में आ रही थी, गोया कोई मुबारक रूह नदी के किनारे बैठी हुई पानी की लहरों को या दूसरे साहिल के खामोश व पुरकशिश दरख्तों को अपनी जिंदगी का दास्ताने गम सुना रही हो. □

● गुलशन नंदा

मैं उन्हें सुभाष मानता हूं

हिंदी लेखन में घटिया लेखन और स्तरहीनता की चर्चा जब-जब चलती है, और लेखक की लोकप्रियता की बात जब-जब उठती है—गुलशन नंदा का नाम विपक्ष के रूप में लिया ही जाता है यानी 'बेस्ट सेलर' का खिताब और घटिया लेखक और लेखन का मुकुट, दोनों ही उनके सिर पर होते हैं और अक्सर मान्यता यह होती है कि घटिया लेखक—कभी बढ़िया आदमी नहीं हो सकता, मगर गुलशन नंदा के करीबी, इस चर्चा-कुचर्चा के बावजूद यह महसूस करते हैं कि लिखते वे चाहे जो हों, पर हैं वे बड़े उम्दा इंसान और एक आम संघर्षशील व्यक्तित्व भी. साहित्य के इतने जबरदस्त विपक्ष को अगर साहित्य के कर्णधार माने जाने वाले व्यक्तित्व की स्मृति-चर्चा में न शरीक किया जाये तो शायद बात अधूरी होगी. उन्होंने बताया.

"मैंने प्रेमचंद को अपने स्कूल के दिनों में पढ़ा... फिर कालेज के दिनों में भी और यह कहना गलत नहीं होगा कि मैंने उनके तकरीबन सभी उपन्यास एवं कहानियां पढ़ीं. उनका बड़ा नाम था उस जमाने में और लगभग हर पुस्तकालय में उनकी किताबें उपलब्ध थीं....आज भी मैं उनकी 'कर्बला' को नहीं भूला हूं...मुस्लिम पृष्ठभूमि व उनकी जाती जिंदगी को इतने मनोवैज्ञानिक ढंग से किसी ने नहीं लिखा है. 'निर्मला' भी मुझे बहुत अच्छा लगा. लेखन शैली इतनी सहज और सीधी-साधी थी कि पात्रों के बारे में लगता था कि हम उन्हें पढ़ नहीं रहे, सारा कुछ हमारे सामने घट रहा है....हम उनकी मनःस्थितियों में डूबकर जी रहे हैं....पर एक बात जरूर कहना चाहूंगा, उनके लेखन के साथ एक बात जरूर लगी कि उन्हें आम आदमी नहीं समझ सकता. जिसमें थोड़ी-सी राजनीतिक जागरूकता होगी, वही उन्हें पूरी तौर पर समझ सकता है. उनकी रचनाओं में घटनाएं थीं, मनःस्थितियां थीं, मगर कथानक का 'अंडर करंट' था, एक जेहाद! जिसे उन्होंने कलम के जोर से शुरू किया था. उन जैसा महान क्रांतिकारी नहीं हुआ...मैं उन्हें सुभाष कहूंगा....लेखन के जरिये क्रांति का झंडा फहराने वाला सुभाष!...वे इकलौते साहित्यकार हैं, जिन्होंने शोषण के खिलाफ जमकर लिखा." ▣

● मनुभाई मेहता

मैंने नहीं पढ़ा

"क्या कहूं. मैंने मुंशी प्रेमचद के बारे में सुना है कि वे हिंदी के बहुत बड़े रचनाकार थे, किंतु मैंने उनकी एक भी कहानी या उपन्यास नहीं पढ़ा है. हिंदी में ही नहीं, बल्कि गुजराती में भी मेरी यही स्थिति रही है. गुजराती साहित्य में भी—मैंने कोई गुजराती उपन्यास या कहानी नहीं पढ़ी." ▣

● अरुण साधू

वे प्रेमचंद से परिचित हैं

"जब मैं दसवीं कक्षा का विद्यार्थी था, तब मैंने मुंशी प्रेमचंद का 'गोदान' पढ़ा था, हिंदी में ही. मैं नागपुर का हूं और वहां हिंदी के प्रति लोगों का लगाव अच्छा है. स्कूल के जमाने में ही मैंने उनकी अनेकों कहानियां पढ़ीं. कुछ हिंदी के विषय के अंतर्गत, तो कुछ कहानी संग्रहों के माध्यम से. अब तो उन कहानियों के विषय में अधिक कुछ याद नहीं, जिनका मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था. एक कहानी याद है, जिसमें एक बड़े भाई और छोटे भाई के बीच के संबंधों को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया था उन्होंने.

यह बड़ी दुखद स्थिति है...दयनीय भी कि हमारे मराठी पाठक अंग्रेजी की रचनाएं अधिक पढ़ते हैं, हिंदी की कम, मगर यह भी सही है कि भले ही उन्होंने प्रेमचंद की रचनाएं पढ़ी न हों, किंतु वे उस महान साहित्यकार से अनभिज्ञ नहीं हैं." □

प्रेमचंद को यों पढ़ाया जाता है हमारे यहां

▣ डा. विजयेंद्र स्नातक

डॉ. विजयेंद्र स्नातक एक लंबे अर्से तक हिंदी अध्यापन से जुड़े रहे हैं. विश्वविद्यालयों की बाह्य और आंतरिक स्थितियों से वाकिफ हैं. हिंदी अध्यापन का तरीका बाबा आदम के जमाने से एक ही ढर्रे पर और एक ही फार्मूले में बंधकर चला आ रहा है. 'बेचारे' प्रेमचंद भी उसी आदम फार्मूले के शिकार हो गये हैं. यहां प्रस्तुत है ऐसे ढर्रेदार अध्यापन की एक झलक.

'प्रेमचंद अपने युग के सबसे अधिक लोकप्रिय, सबसे अधिक संवेदनशील और सबसे अधिक समर्थ कथाकार थे...' यह कहना अनेक विवादों और उसके साथ तरह-तरह के भृकुटि तनावों को निमंत्रण देना है. लेकिन इन्हीं विवादों और तनावों के बीच प्रेमचंद विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट हुए थे और इन्हीं के बीच जूझते हुए वे आजन्म चलते रहे. सन 1925 में किसी लेखक ने उनके उपन्यासों पर मुग्ध हो उन्हें उपन्यास-सम्राट की उपाधि देकर लोगों के आक्रोश का विषय बनाया था और इसी सम्मान एवं आक्रोश के सम्मिलित प्रभाव से प्रेमचंद विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान पा सके थे.

यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जो लेखक सन 1920 तक उर्दू में किस्सा-कहानी लिखकर मशहूर किस्सा-गो बना था, वह 'सेवा सदन' के छपते ही हिंदी कथा-साहित्य में चुपचाप आ खड़ा हुआ और अपने समय के सभी उपन्यासकारों को बिना किसी ललकार के परास्त कर सबसे अगली पंक्ति में मूर्धन्य बन गया. अगली पंक्ति के शीर्ष स्थान पर प्रेमचंद को मौन-मुद्रा में खड़ा देख हिंदी का अध्यापक उमंग और उल्लास से उछल पड़ा और उसने प्रेमचंद को हिंदी के लिए गर्व और गौरव का विषय माना.

प्रेमचंद से पहले तिलिस्मी, अय्यारी और जासूसी उपन्यास-के साथ रोमांस, कल्पना और इतिहास का सम्मिश्रण उपन्यास की कथावस्तु के रूप में स्वीकृत था. लेकिन प्रेमचंद ने सीधे समाज से जुड़कर, उसके दुख-दर्द को महसूस कर, उन्हीं पात्रों और घटनाओं के माध्यम से (जो उनकी देखी, भोगी, सही और पचायी हुई थीं) कथा-कहानी लिखना शुरू किया था. हिंदी-अध्यापक को प्रेमचंद की सामाजिक यथार्थ से यह संपृक्ति बड़ी आकर्षक लगी.

भटकना विद्यार्थियों का अध्यापकीय गलियों में

सन् 1928 से 34 तक प्रेमचंद सभी विश्वविद्यालयों में बी. ए. तथा एम. ए. कक्षाओं में किसी न किसी रूप में स्थान पा गये थे और इन्हीं सात-आठ वर्षों में उनका घोर विरोध भी हुआ. उनके लेखन को हिंदी की मूल प्रकृति (जीनियस) के प्रतिकूल तक कहा गया. लेकिन विरोध जितना उग्र हुआ, प्रेमचंद का वर्चस्व, प्रताप, यश, गरिमा और गौरव विश्वविद्यालयों में उतना ही तेजी से बढ़ता गया. श्री अवध उपाध्याय काशी विश्वविद्यालय में गणित पढ़ाते थे. साहित्य में उनकी गहरी रुचि थी. प्रेमचंद से उनका अच्छा परिचय था, किंतु किन्हीं व्यक्तिगत कारणों से वे प्रेमचंद के उपन्यासों का विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाना अनुचित मानते थे. उन्होंने 'रंगभूमि' को 'वैनिटी फेयर' का अनुवाद कहकर प्रेमचंद को मौलिक लेखक के रूप में ही स्वीकार नहीं किया. उपाध्यायजी का कहना था कि जब हम अंग्रेजी के वैनिटी फेयर को पढ़कर मौलिक कृति का आनंद ले सकते हैं तो उसका भौंडा हिंदी अनुवाद 'रंगभूमि' क्यों पढ़ें और पढ़ावें. प्रेमचंद की मृत्यु के बाद स्वयं उपाध्यायजी ने अपनी इस भूल को स्वीकार किया था. पं. नंददुलारे वाजपेयी ने, जो उस समय कुछ दिनों के लिए विश्वविद्यालय में अस्थायी रूप से कार्यरत थे, प्रेमचंद के कृतित्व को नीतिवादी, बुद्धिवादी, आदर्शवादी ठहराकर, टेक लेकर लिखने वाला कह दिया. वाजपेयीजी की नजर में प्रेमचंद के पास तात्विक जीवन दर्शन का अभाव था, गंभीर विचारों की सतह वे नहीं छू पाते थे. शाश्वत प्रश्नों से जूझने की सामर्थ्य प्रेमचंद में नहीं थी. इसी प्रकार के आरोप-अभियोगों के आधार पर वाजपेयीजी प्रेमचंद को पाठ्यक्रम में रखने का विरोध करते रहे. किंतु बाद में प्रेमचंद के प्रति उनका आक्रोश धीरे-धीरे कम होता गया. ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने तो प्रेमचंद के विरुद्ध एक अभियान ही चलाया था. प्रेमचंद ने इन आरोपों की सर्वथा उपेक्षा की, क्योंकि प्रेमचंद की दृष्टि में श्रीनाथ सिंह का कोई महत्व नहीं था. और वे अपनी जमीन पर अडिग चट्टान की तरह जमे खड़े रहे.

प्रेमचंद के उपन्यासों को आज आदर्शवादी कहने वाले जितने अध्यापक हैं, उनसे ज्यादा यथार्थवादी कहने वाले हैं. प्रेमचंद को गांधीवादी कहने वालों से अधिक उन्हें साम्यवादी या समाजवादी कहने वाले हैं. कुछ मध्यममार्गी अध्यापक ऐसे भी हैं जो प्रेमचंद को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी लेखक मानते हैं, तथा मानवतावादी कहकर अन्य वादों से उन्हें मुक्त कर लेते

हैं. कुछ अध्यापक आज भी प्रेमचंद को शुद्ध समाज-सुधारक और प्रचारक ही समझते हैं. अपनी-अपनी समझ है; किसी की समझ पर इस जनतंत्र के युग में प्रतिबंध कौन लगा सकता है!

विश्वविद्यालयों में प्रेमचंद के साथ कैसा बर्ताव हो रहा है इस पर पिछले चालीस वर्षों में जो देखा, उसी की चर्चा यहां करूंगा. एक अध्यापक ने प्रेमचंद को पूरा आदर्शवादी ठहराते हुए अपने भाषण में कहा कि प्रेमचंद की आस्था आश्रमों और सदनों की स्थापना में थी. स्वामी दयानंद के आर्यसमाजी शिष्यों ने भी, गुरुकुल, विधवा आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, अनाथालय खोले थे. महात्मा गांधी ने साबरमती और वर्धा में आश्रम ही खोलकर अपने सिद्धांतों का प्रचार किया था. फलतः प्रेमचंद की मान्यता आदर्शवादी-आश्रमवादी ही थी.

दूसरे अध्यापक ने सिद्ध करना चाहा कि प्रेमचंद का जीवन गांव के परिवेश में पला, गांव की संस्कृति से पोषित हुआ और गांव के संघर्ष से बना था. अतः वे ग्रामीण जीवन के ही चितेरे थे. गांव से बाहर प्रेमचंद ने जो देखा, वह कल्पित है, अयथार्थ है.

एक अध्यापक ने प्रेमचंद को ठेठ वामपंथी, मार्क्सवादी, जनवादी सिद्ध कर अपनी कक्षा में साम्यवाद का जयघोष करते हुए कहा—बड़े खेद का विषय है कि प्रेमचंद की कृतियों को अभी तक सही परिप्रेक्ष्य में देखा-परखा नहीं गया. डा. रामविलास शर्मा और प्रोफेसर प्रकाशचंद्र गुप्त की मान्यताओं के आलोक में ही प्रेमचंद को ठीक-ठीक समझा जा सकता है. उन्होंने गांधीवाद के जीवन-दर्शन को यथार्थवादी न मानकर पलायनवादी ठहराया और मार्क्स के बारे तत्व दर्शन को प्रेमचंद पर सटीक घटा दिया. विद्यार्थी पसोपेश में हैं. प्रेमचंद को वह किस आंख से देखें, किस चश्मे से देखें, किस नजरिये से देखें! क्या सचमुच प्रेमचंद ने मार्क्स-दर्शन को चरितार्थ करने के लिए 'सेवासदन' से 'गोदान' तक की बीस वर्ष की साहित्यिक-यात्रा की थी? 'पूस की रात', 'कफन', 'ईदगाह', 'पंच परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि में क्या प्रेमचंद साम्यवाद की स्थापना कर रहे थे?

एक अध्यापक की दृष्टि प्रेमचंद की राजनीति विषयक धारणाओं पर गयी. उन्होंने महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन, हिंदू-मुस्लिम ऐक्य, विधवा विवाह, अछूतोद्धार आदि कार्यों का उल्लेख करते हुए प्रेमचंद को तत्कालीन समस्याओं से जूझते पाया और अपनी शैली में 'प्रेमचंद पर गांधी दर्शन का प्रभाव' शीर्षक से लंबा भाषण कक्षा को सुना दिया. उन्होंने प्रेमचंद का यह उद्धरण दिया—'मगर कितने खेद की बात है कि महात्मा गांधी के सिवा किसी भी दिमाग ने कौमी भाषा की जरूरत नहीं समझी और उस पर जोर नहीं दिया.' यह उद्धरण प्रेमचंद की भाषानीति को स्पष्ट करने के लिए दिया गया.

यह कहना असंगत नहीं है कि अधिसंख्य अध्यापक मध्यवर्ग से संबंध रखते हैं. और प्रेमचंद ने सबसे अधिक वर्णन मध्यवर्ग का ही किया है. अध्यापकों को यह वर्णन प्रीतिकर इसलिए लगता है कि वे स्वयं इस वर्ग के हैं और उन समस्त कष्टप्रद परिस्थितियों से परिचित हैं जिनमें होकर निम्न मध्य वर्ग तथा मध्य वर्ग का व्यक्ति गुजरता है.

बवाल बने हुए हैं ये तीस-चालीस सवाल

विश्वविद्यालयों में प्रेमचंद को पढ़ानेवाले अध्यापकों के ज्ञान-क्षितिज का पता उनके द्वारा निर्मित प्रश्नपत्रों से बहुत कुछ लग जाता है. सबसे ज्यादा पूछे गये प्रश्न हैं—प्रेमचंद को आप आदर्शवादी लेखक मानते हैं या यथार्थवादी? प्रेमचंद के साहित्य पर आप किसका प्रभाव लक्षित करते हैं? प्रेमचंद ने जिन समस्याओं का अंकन किया है, क्या वे सामयिक हैं? प्रेमचंद के पात्र दुर्बल चरित्र और भीरु क्यों हैं? प्रेमचंद के किन-किन उपन्यासों को आप महाकाव्यात्मक उपन्यास कहना चाहेंगे? क्या दो कहानियों के समानांतर चलने से कथा विन्यास में आघात नहीं आता? प्रेमचंद की सुधारवादी दृष्टि पर किस संस्था या व्यक्ति का प्रभाव है? प्रेमचंद के उपन्यासों की शक्ति और सीमा का उद्घाटन कीजिए. प्रेमचंद सामयिक आंदोलनों को राष्ट्रीयता का नाम देकर अपने उपन्यासों को कालजयी नहीं बना सके. प्रेमचंद का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद किस प्रकार उनके उपन्यासों में सफल हुआ? प्रेमचंद कथा-शिल्प की कसौटी पर कैसे उतरते हैं? प्रेमचंद सोद्देश्य लेखन में विश्वास करते थे जो कला सृजन में घातक दृष्टि है. प्रेमचंद की मानवतावादी दृष्टि को उनके उपन्यासों के आधार पर स्पष्ट कीजिए. महाजनी सभ्यता का विरोध प्रेमचंद ने किन संदर्भों, पात्रों तथा माध्यमों से किया? प्रेमचंद की आस्तिक भावना पर विचार व्यक्त कीजिए. क्या प्रेमचंद साहित्य हृदय परिवर्तन में विश्वास उत्पन्न करता है? प्रेमचंद की अर्थनीति का मूल क्या है? प्रेमचंद क्रांति के साथ शांति में विश्वास करते थे—क्या यह सत्य है?. . . .आदि आदि. इसी प्रकार तीस-चालीस प्रश्न बार-बार दुहराये जा रहे हैं.

संक्षेप में, विश्वविद्यालयों में प्रेमचंद की पंचविध परख अध्ययन-अध्यापन, अनुसंधान, विचार-विमर्श (संगोष्ठी), परीक्षा तथा स्वतंत्र लेखन के रूप में हो रही है. पिछले पचपन वर्षों से यह क्रम चला आ रहा है.

शोध के नाम पर विश्वविद्यालयों में जो हो रहा है उसकी चर्चा न करना ही मेरे हित में है. अध्यापन के लिए 'प्रेमचंद : एक अध्ययन' की शैली में पचासों अध्ययन बाजार में बिखरे पड़े हैं. प्रत्येक उपन्यास पर एक अध्ययन तैयार है. प्रेमचंद की तीन सौ कहानियों में से पाठ्य पुस्तकों में वही छंटी हुई एक दर्जन कहानियां स्थान पा रही हैं. इधर 'कफन', 'पूस की रात', और 'शतरंज के खिलाड़ी' को विशेष तरजीह मिली है. इन कहानियों पर भी अध्यापक बंधुओं ने 'एक अध्ययन' छाप बाजार नोट्स तैयार कर दिये हैं. साहित्य का सरलीकरण आज के विश्वविद्यालयों की विशेषता है. प्रेमचंद और उनका साहित्य इसी सरलीकरण का शिकार हैं. रेडीमेड गारमेंट्स की तरह साहित्य भी रेडीमेड उत्तरों में तैयार है. विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक इस धंधे में जौहर दिखा रहे हैं. प्रेमचंद भी इस चक्की में पीसे जा रहे हैं. □

यदि प्रेमचंद आज जिंदा होते....

■ रवींद्रनाथ त्यागी

"...फिल्मों का निर्देशन वे खुद करते और उनका नायक अपने पुत्र अमृतराय को बनाते. सारी फिल्म ढिशुंग-ढिशुंग बनायी जातीं. फिल्मों के डायलाग श्रीपतराय लिखते. 'गोदान' की शूटिंग कश्मीर में होती."

हिंदी के उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचंद की जन्म शताब्दी को लेकर काफी गोष्ठियों और समारोहों का आयोजन किया गया. कहीं-कहीं उनकी पांडुलिपियों, पत्रों तथा चित्रों की प्रदर्शनी भी लगायी गयी. इस संदर्भ में सबसे ज्यादा सफल वह साहित्य संध्या रही जो देहरादून में मनायी गयी और उस सफलता का एकमात्र कारण यह था कि उस गोष्ठी का संचालन खाकसार ने किया था. वैसे समारोह की व्यवस्थापिका श्रीमती शशिप्रभा शास्त्री ने मुझे सभापति बनाने का वचन दिया था, पर ऐन वक्त पर एक वयोवृद्ध कहानी लेखिका कहने लगीं कि मेरे रहते नयी पीढ़ी का कोई लेखक सभापति कैसे हो सकता है? इसके बाद उन्होंने असहयोग आंदोलन की धमकी दी और परिणाम यह रहा कि सभापत्नी वह महिला कथाकार ही बनीं. मैंने गोष्ठी का संचालन किया. बुरा तो बहुत लगा, पर 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः' वाली वाणी ध्यान में रखते हुए मैंने स्थिति स्वीकार कर ली. प्रेमचंद की जन्मशती के पुण्य अवसर पर भी हमारा लेखक समुदाय व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ सका. बहरहाल गोष्ठी सफल रही और कुलभूषण ने एक कहानी पढ़ी और विष्णु प्रभाकर ने शरच्चंद्र के बारे में काफी बातें कीं. प्रेमचंद को छोड़कर बाकी सारी चीजों की चर्चा की गयी और काफी खुलकर की गयी. कविताएं पढ़ने वालों में एक सज्जन का नाम अश्वघोष निकला. जिसे देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ. मेरी सूचना के अनुसार अश्वघोष जो थे वे तो कालिदास के भी परवर्ती थे. अश्वघोष की कविता के बाद कुछ अन्य घोष भी हुए और गोष्ठी समाप्ति को प्राप्त हुई.

कुल मिलाकर आयोजन काफी सफल रहा. आयोजन से वापस आते हुए मेरे मन में सहसा यह प्रश्न उठा कि प्रेमचंद जी यदि आज जीवित होते तो क्या करते? वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक वातावरण के बीच उनका क्या हश्र होता? वह दिन है और आज का दिन है कि मैं बराबर इसी बारे में सोच रहा हूं और दोस्तों से इसी सिलसिले में बातचीत करता चला आ रहा हूं. मगर समस्या जो है वह इतनी गहरी है कि पकड़ में नहीं आती.

मेरे एक दोस्त का कहना है कि प्रेमचंद के बारे में कुछ भी सोचने से पहले उनके बारे में कुछ आंकड़े जानना जरूरी है. हमें पता होना चाहिए कि प्रेमचंद के दो नाम और थे. एक था, धनपतराय और दूसरा था नवाबराय साहित्य के प्रति लगाव उन्हें तंबाकू बचने वाले एक लड़के की दोस्ती के कारण हुआ था जो उन्हें तिलस्मे होशरुबा, किस्साए चहारदरवेश, फसानाए आजाद और चंद्रकांता संतति पढ़ने को दिया करता था. प्रेमचंद के बाल उलझे हुए थे, दिल साफ था, मूंछें घनी थीं. वे खद्दर पहनते थे और गांधीजी से प्रभावित थे. वे उर्दू और फारसी बखूबी जानते थे और उनकी पहली किताब 'सोजेवतन' उर्दू में ही छपी थी. उनकी मृत्यु भारत को आजादी मिलने से पहले ही हो गयी थी. पेशे से वे स्कूल मास्टर थे और उन्होंने शादियां भी एक नहीं वरन् दो की थीं. कुल मिलाकर वे काफी मजाक पसंद और होनहार इंसान थे.

जिस मित्र ने मुझ ऊपर लिखी जानकारी दी, उनके अनुसार प्रेमचंद यदि आज जीवित होते तो वे अकेले ऐसे कलाकार होते जिनकी आयु सौ वर्ष की हो चुकी होती. अब तक उन्हें राज्यसभा की सदस्यता, साहित्य अकादमी की फैलोशिप और ज्ञानपीठ पुरस्कार जैसी सारी चीजें मिल गयी होतीं. इस तमाम राशि से वे लेखन छोड़कर प्रकाशन का धंधा शुरू करते और किसी लेखक को कभी कोई रायल्टी नहीं देते. हिंदी के जितने लेखक भी बाद में चलकर प्रकाशक बने, उन सभी ने ऐसा ही किया. इन लोगों ने दोस्तियां छोड़ दीं, बेइज्जती सही, मगर रायल्टी न देने वाले सिद्धांत को कभी नहीं छोड़ा. वे 'कलम का मजदूर' या 'कलम का सिपाही' कहलाने के बजाय 'कलम के फील्ड मार्शल' कहलाते और फील्ड मार्शल मानिक शा की भांति मूंछें मरोड़ते. वे अपनी किताबों के नाम बदलते और उन्हें लाखों की संख्या में छपवाते. प्रकाशन के लिए सरकार से सस्ता कागज लेते और फिर उसे ब्लैक में बेचते. आखिर देश के बड़े-बड़े नेताओं ने अपना ईमान छोड़ दिया तो फिर प्रेमचंद ही क्यों पीछे रहते! आखिर वे भी तो आदमी ही थे.

मेरे एक और मित्र हैं, जिनका विचार है कि प्रेमचंद यदि आज जिंदा होते तो वे डी. आर. प्रेमचंदानी नाम से फिल्म प्रोड्यूसर होते. जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने वैसे भी अजंता सिनेटोन कंपनी में काम किया था. फिल्मों का निर्देशन वे खुद करते और उनका नायक अपने पुत्र अमृतराय को बनाते. सारी फिल्में ढिशुंग-ढिशुंग बनायी जातीं, क्योंकि पब्लिक की रुचि बिगाड़ना किसी को भी शोभा नहीं देता. फिल्मों के डायलाग श्रीपतराय लिखते, गाने आनंद बख्शी के होते और आवाज किशोर कुमार की होती. अमृत और हेमा मालिनी

की जोड़ी अमर हो जाती. 'गोदान' की शूटिंग कश्मीर में होती.

मेरे तीसरे मित्र के अनुसार प्रेमचंद यदि आज जिंदा होते तो वे राजनीति में होते. देश की समस्याओं के सामने उनके लिए और कोई चारा बचता ही नहीं था. चौधरी चरणसिंह की भांति वे भी किसानों के नेता होते, हां, अलबत्ता यह बात दूसरी है कि चौधरी चरणसिंह अमीर किसानों के हिमायती हैं तो प्रेमचंद गरीब किसानों के नेता बनते. जनता सरकार उन्हें रूस में भारत का राजदूत बनाकर भेज सकती थी. यदि वे केंद्रीय मंत्रिमंडल में होते तो शिक्षा विभाग संभालते, जिसका उन्हें अनुभव था. वैसी स्थिति में उनके एक सुपुत्र रूस के और दूसरे सुपुत्र अमेरिका के राजदूत बनाये जा सकते थे. बनारस से लमही तक रेल की लाइन बिछती, जैसे कि दिल्ली से सहारनपुर तक एक नयी लाइन चौधरी चरण सिंह ने बिछवायी. यदि वे वजीर होते तो वातानुकूलित कोठी में रहते और उनकी पत्नी संसद की सदस्य होतीं. बजट के अवसर पर वे कोई कहानी पढ़ा करते, जैसे कि मैथिलीशरण गुप्त ऐसे अवसरों पर कविता पढ़ा करते थे. वे ऐसा कानून पास करवाते कि यशपाल और जैनेंद्र के उपन्यासों पर प्रतिबंध लग जाता और सारे पाठ्यक्रमों में मात्र उन्हीं की पुस्तकें लगी होतीं. वे सत्यजित रे पर मुकद्दमा चलाते कि उन्होंने उनकी कहानी को लेकर उसके साथ अन्याय क्यों किया. सरकार में शामिल होने पर उनकी रचनात्मक प्रतिभा और भी बढ़ जाती क्योंकि जनता और सरकार में मंत्री बनते ही उपन्यासकार के साथ-साथ सहसा कवि भी हो जाते और उनकी किताबों के संस्करण रातोंरात खत्म हो जाते. 'हंस' छपता और सरकारी छत्रछाया में 'राजहंस' होकर छपता. वे गांधीजी के बंदरों की भांति न कुछ देखते, न कुछ सुनते और न कुछ बोलते. आखिर जब आजादी के युद्ध के बड़े-बड़े योद्धा बाद में विलासी और स्वार्थी हो गये तो प्रेमचंद को ईमानदार रहने का क्या अधिकार बचता था! आखिर उन्हें भी तो वक्त के साथ चलना था! 'दाढ़ी खुदा का नूर है बेशक मगर जनाब, फैशन की इंतजामे सफाई को क्या करूं?' अंतरिम सरकार में गांधीजी ने बाबू राजेंद्र प्रसाद से मंत्री कॉलोनी में रहने को कहा था, और इस बात को लेकर बाबूजी काफी दुखी होते थे. जमाने के साथ बदलना हमारे नेताओं का कर्त्तव्य है, और खुशी की बात यह है कि इस फर्ज से उन्होंने कभी अपना मुंह नहीं मोड़ा. ब्रिटेन के प्रधानमंत्री डिजरायली, जो कि राजनीति को एक आवारा आदमी का आखिरी पड़ाव समझते थे, खुद साहित्य से राजनीति में आये थे. और हां, यदि वे वजारत संभाले हुए मृत्यु को प्राप्त होते तो उनका अंतिम संस्कार राजकीय ठाठबाट से होता, निराला या पंत की भांति नहीं. उन पर वृत्तचित्र बनते, सरकारी झंडे झुकते और दफ्तरों में छुट्टियां होतीं. पाकिस्तान में फील्ड मार्शल अयूब खान ने शौकत थानवी तक के मरने पर सरकारी छुट्टी का ऐलान किया था.

मेरे एक और मित्र हैं जो मेरी ही भांति प्रेमचंद के अनन्य भक्त हैं. उनका कहना है कि यदि प्रेमचंद जीवित होते तो वे अब भी लेखक ही रहते. वे लिखते रहते और एक से बढ़कर एक उत्कृष्ट रचना हिंदी को देते. सारे माहौल को देखते हुए यह भी संभव था कि व्यंग्यकार हो जाते क्योंकि 'सत्याग्रह' जैसी अनेक रचनाओं से यह पूरा पता लगता है कि व्यंग्य करने की उनमें असीम प्रतिभा और क्षमता थी. यह भी संभव है कि वे अपनी पुरानी पोथियों को दुबारा लिखते और नयी 'रंगभूमि' में आयाराम वल्द गयाराम, तस्कर लोग, हरिजनों के हत्यारे और 'जहं तहं प्रकास' करने वाले नेता लोग रंगमंच पर ज्यादा प्रवेश करते. वे शायद गांवों पर ही लिखते जहां जमींदारी तो खत्म हो गयी है पर जमींदार अभी भी बाकी हैं. यह भी संभव है कि आजकल के फैशन को देखते हुए एक आध अश्लील उपन्यास भी लिख डालते जिसे लेकर काफी चर्चा-परिचर्चा चलती.

सुमित्रानंदन पंत की अंतिम कृति 'लोकायतन' की असफलता को देखकर यह तो निश्चित है कि प्रेमचंद अपनी अंतिम रचना तो कभी भी नहीं लिखते. यह भी संभव है कि वे प्रयोगवादी कथाकार हो जाते और 'दो बैलों की कथा' की तर्ज पर 'दो गधों की कथा' लिखते ताकि किसी को कोई शिकायत न रहे. सरकार के बयानों के अनुसार भारत के गांवों की सारी समस्याएं अब सुलझ गयी हैं और इस कारण यह भी संभव था कि प्रेमचंद भी अपनी कुछ कृतियां महानगरों को लेकर रचते. बहरहाल वे कुछ भी लिखते मगर आंचलिक साहित्य कभी नहीं लिखते. जबलपुर के कवि अंचल को छोड़कर और कोई आंचलिक साहित्य लिख ही नहीं सकता.

मैं दोस्तों की राय सुनता हूं और चुप रहता हूं. मैं उस तस्वीर को देखता हूं जिसमें प्रेमचंद कैनवास का एक फटा हुआ जूता पहने बैठे हैं और बीवी-बच्चों के साथ अपनी तस्वीर खिंचवा रहे हैं और सोचता हूं कि प्रेमचंद यदि आज जिंदा होते तो देश की स्थिति देखकर या तो पागल हो जाते या आत्महत्या कर लेते. जब स्टीफन ज्विग और हेमिंग्वे ने ऐसा किया था तो प्रेमचंद जैसा संवेदनशील और सच्चा कलाकार और क्या कर सकता था? □

पं. कृष्णबिहारी मिश्र की श्रद्धांजलि

पं. कृष्णबिहारी मिश्र ने प्रेमचंद के साथ अनेक वर्षों तक 'माधुरी' का संपादन किया. प्रेमचंद की मृत्यु के सोलह दिन बाद उन्होंने 'षोड़शी' शीर्षक श्रद्धांजलि लिखी. श्रद्धांजलि के कुछ अंश प्रस्तुत हैं :

रुकी हंसगति हाय, रही कहानी कहन को!
सुनि गोदान सहाय, प्रेमचंद परलोक को! !
मगन कहानी रचन में, लगन रही दिन-रात!
आपु कहानी ह्वै गये, प्रेमचंद विख्यात ! !
जौ लौं कला-विवेक है, जौ लौं कथा-विनोद!
प्रेमचंद तौ लौं अमर, बिहरें बानी गोद! !

लेखन परचून की दूकान जैसा उत्तराधिकार...

(पृष्ठ १५ से आगे)

आपने प्रेमचंद को उतने गहरे जाना है पिता के रूप में, क्या कुछ ऐसी स्मृतियां हैं, जो अभी भी आपको किसी रचनात्मक क्षण में याद आती हैं? या रचनाकार की दृष्टि से आप उन्हें याद करते हैं?

नहीं नहीं, उनके साथ संबंध दोस्ताना था. वह पिता-पुत्र वाली बात नहीं थी. आडंबर मुक्त आदमी था वह. उदाहरण के लिए कभी उन्होंने मुझसे नहीं कहा था कि तुम पढ़ा करो. मुझे याद ही नहीं है कि कभी कहा हो. जबकि बहुत से बाप ऐसे हैं जो पीछे पड़े रहते हैं.

कभी डांटा नहीं आपको?

कभी डांटा हो, हमको याद नहीं आता. हां, अम्मा बताती थीं कि कभी उन्होंने गुस्से में एक बार हाथ चला दिया था तो उसे अम्मा ने अपने ऊपर झेल लिया. क्यों चलाया था, सो हमको याद नहीं. बाद में अम्मा ने बताया हो तो उसकी भी कोई याद नहीं. हां इतना याद है कि उन्होंने ही मेरा अक्षरारंभ करवाया था. उर्दू उन्होंने शुरू करवायी थी. तब मैं 5 साल का रहा हूंगा. लेकिन यह सब उन्होंने अपने ढंग से किया था. कहीं डर नहीं था. आज लोग पिता का सामना करने से कतराते हैं. हम लोग तरसते थे उनकी कंपनी के लिए.

रचनाकार के रूप में ऐसी कोई याद?

रचनाक्रम को लेकर बहुत अधिक उनके साथ तो मैं नहीं रहा. 13–14 की उम्र रही होगी, तब मैंने एक कहानी लिखी थी, और वह कहानी उनके पास सलाह के लिए भेजी इलाहाबाद से बनारस. कहानी को करुण बनाने के लिए मैंने उसके सब पात्रों को मौत के घाट उतार दिया था. क्योंकि मौत सबसे ज्यादा करुण होती है. उन्होंने हमको लिखा कि बड़ी अच्छी कहानी लिखी तुमने. ये है, वो है. तुम्हारी भाषा भी बहुत अच्छी है. पता नहीं कितनी बातें! उसके बाद लिखा कि लेकिन अगर इसमें इतनी मौतें न हुई होतीं तो यह और ज्यादा अच्छी होती. बहुत ही दबी हुई आवाज में था यह जुमला. लेकिन इसके बाद का जो जुमला था, वह है उस आदमी की ग्रेटनेस का चरमशिखर, 'लेकिन मैं खुद इसी मर्ज का शिकार हूं.' वो दिन है और आज का दिन है, 45 बरस का वक्त हो गया है. अब मेरे यहां बहुत मुश्किल से कोई मरता है. मुश्किल से ही मैं किसी को मार पाता हूं. मरते-मरते बच जाता है, लेकिन दर्द पूरा रहता है. दर्द जगाने के लिए मौत का सहारा लेना फूहड़ ढंग है, यह उन्होंने हमेशा के लिए मेरे दिल में नक्श कर दिया.

उनके जमाने में नवलेखन को इस तरह प्रोत्साहन दिया जाता था. अब आप नवलेखन में कितनी रुचि लेते हैं. एक प्रतिष्ठित लेखक होने के नाते नवलेखन को प्रोत्साहन देना कितना जरूरी मानते हैं?

नवलेखन को प्रोत्साहन देना बहुत जरूरी है. लेकिन यहां पर मैं बहुत बड़ा अपराधी हूं. यानी मैं नवलेखन को, जितना मुझको प्रोत्साहित करना चाहिए था, उसका बहुत कम कर पाया हूं. इसका जो भी कारण हो, मैं नहीं जानता. लेकिन जितना करना चाहिए था उतना कर नहीं पाता.

इस वक्त जो नया लिखा जा जा रहा है, उसके बारे में कोई जनरल ओपीनियन तो आपकी होगी.

जनरल ओपीनियन तो क्या, लेकिन बहुत संतुष्ट नहीं हूं. आपको यह भी बताऊं, सदैव से मैं कविताएं ज्यादा पढ़ता रहा हूं. कहानियां मैंने मास्टर्स की पढ़ी हैं. यूं मैं पत्र-पत्रिकाओं में से कहानियां निकालकर नहीं पढ़ता. ईमान की बात है, वक्त नहीं मिलता.

कहानी की बात चली तो आपकी 'सहज कहानी' की याद आ गयी. क्या मुराद थी आपकी उससे? वह क्या एक आंदोलन था?

लोगों ने उसे आंदोलन समझा लेकिन वह आंदोलन नहीं था. आंदोलन ही मुझे चलाना होता तो आंदोलन चलाने का ढंग भी मुझे आता है. बहुत चलाया है मैंने आंदोलन. पत्रिका मेरे हाथ में थी. आंदोलन चलाने में क्या देर लगती. लेकिन मुझे चलाना नहीं था. उससे सिर्फ यह रेखांकित करना चाहता था कि कहानी में से जो कथारस निकला चला जा रहा है, वह बहुत गलत है. कहानी में कथानक का अंश कम हो, ज्यादा हो, यह एक बात है, लेकिन एक कथारस जो कि बांधे रहे पाठक को, वह मैं कहानी के लिए जरूरी समझता हूं. वह अगर नहीं है तो कहानी आपकी नहीं पढ़ी जायेगी, और जो भी चीज लिखी जाती है सबसे पहले पढ़ने के लिए लिखी जाती है.

तो आपको लगता है कि उससे बात कहीं आगे बढ़ी? या कथारस सूख गया या सूखता जा रहा है? आज जो कहानियां लिखी जा रही हैं, उससे लगता है कि कथा बदली है?

हां, बदली. अब वह चीज, वह दौर खत्म हो गया है और कहानी फिर जमीन को पा रही है. 'सारिका' में भी मैं देख रहा हूं, ज्यादा नहीं पढ़ता, लेकिन एकदम कोरा भी नहीं रहना चाहता. इसलिए उलट-पलट लिया करता हूं. मुझे लगता है कि इस समय अब 'सारिका' का जो रूप बन रहा है, वह कहानी के उस कथारस वाले रूप के साथ जुड़ के बन रहा है. जिसमें वह वैविध्य है, जो कि जीवन-अनुभवों का वैविध्य है और उन सबके बीच से हर आदमी के अपने गुजरने का वैविध्य है.

लेकिन अगर मैं इसे सारिका में छाप दूं तो लोग ऐसा नहीं कहेंगे कि देखिए सारिका संपादक को खुश करने के लिए, अमृतजी ने ऐसा कह दिया?

तो आप यह बात काट दीजिये. कोई जरूरी नहीं है कि आप इस बात को छापें. लेकिन सच अपनी जगह है कि उसमें बदलाव तो आया है.

आप अपने समकालीनों में जिनको सचमुच बड़ी रुचि से पढ़ते हैं या जरूर पढ़ना चाहते हैं उनमें से कुछ नाम ले सकेंगे?

नाजुक मसला है, इसे छोड़ो यार!

और बातचीत हमने वहीं छोड़ दी □

लेखन परचून की दूकान जैसा उत्तराधिकार...

(पृष्ठ १५ से आगे)

आपने प्रेमचंद को उतने गहरे जाना है पिता के रूप में, क्या कुछ ऐसी स्मृतियां हैं, जो अभी भी आपको किसी रचनात्मक क्षण में याद आती हैं? या रचनाकार की दृष्टि से आप उन्हें याद करते हैं?

नहीं नहीं, उनके साथ संबंध दोस्ताना था. वह पिता-पुत्र वाली बात नहीं थी. आडंबर मुक्त आदमी था वह. उदाहरण के लिए कभी उन्होंने मुझसे नहीं कहा था कि तुम पढ़ा करो. मुझे याद ही नहीं है कि कभी कहा हो. जबकि बहुत से बाप ऐसे हैं जो पीछे पड़े रहते हैं.

कभी डांटा नहीं आपको?

कभी डांटा हो, हमको याद नहीं आता. हां, अम्मा बताती थीं कि कभी उन्होंने गुस्से में एक बार हाथ चला दिया था तो उसे अम्मा ने अपने ऊपर झेल लिया. क्यों चलाया था, सो हमको याद नहीं. बाद में अम्मा ने बताया हो तो उसकी भी कोई याद नहीं. हां इतना याद है कि उन्होंने ही मेरा अक्षरारंभ करवाया था. उर्दू उन्होंने शुरू करवायी थी. तब मैं 5 साल का रहा हूंगा. लेकिन यह सब उन्होंने अपने ढंग से किया था. कहीं डर नहीं था. आज लोग पिता का सामना करने से कतराते हैं. हम लोग तरसते थे उनकी कंपनी के लिए.

रचनाकार के रूप में ऐसी कोई याद?

रचनाक्रम को लेकर बहुत अधिक उनके साथ तो मैं नहीं रहा. 13–14 की उम्र रही होगी, तब मैंने एक कहानी लिखी थी, और वह कहानी उनके पास सलाह के लिए भेजी इलाहाबाद से बनारस. कहानी को करुण बनाने के लिए मैंने उसके सब पात्रों को मौत के घाट उतार दिया था. क्योंकि मौत सबसे ज्यादा करुण होती है. उन्होंने हमको लिखा कि बड़ी अच्छी कहानी लिखी तुमने. ये है, वो है. तुम्हारी भाषा भी बहुत अच्छी है. पता नहीं कितनी बातें! उसके बाद लिखा कि लेकिन अगर इसमें इतनी मौतें न हुई होतीं तो यह और ज्यादा अच्छी होती. बहुत ही दबी हुई आवाज में था यह जुमला. लेकिन इसके बाद का जो जुमला था, वह है उस आदमी की ग्रेटनेस का चरमशिखर, 'लेकिन मैं खुद इसी मर्ज का शिकार हूं.' वो दिन है और आज का दिन है, 45 बरस का वक्त हो गया है. अब मेरे यहां बहुत मुश्किल से कोई मरता है. मुश्किल से ही मैं किसी को मार पाता हूं. मरते-मरते बच जाता है, लेकिन दर्द पूरा रहता है. दर्द जगाने के लिए मौत का सहारा लेना फूहड़ ढंग है, यह उन्होंने हमेशा के लिए मेरे दिल में नक्श कर दिया.

उनके जमाने में नवलेखन को इस तरह प्रोत्साहन दिया जाता था. अब आप नवलेखन में कितनी रुचि लेते हैं. एक प्रतिष्ठित लेखक होने के नाते नवलेखन को प्रोत्साहन देना कितना जरूरी मानते हैं?

नवलेखन को प्रोत्साहन देना बहुत जरूरी है. लेकिन यहां पर मैं बहुत बड़ा अपराधी हूं. यानी मैं नवलेखन को, जितना मुझको प्रोत्साहित करना चाहिए था, उसका बहुत कम कर पाया हूं. इसका जो भी कारण हो, मैं नहीं जानता. लेकिन जितना करना चाहिए था उतना कर नहीं पाता.

इस वक्त जो नया लिखा जा रहा है, उसके बारे में कोई जनरल ओपीनियन तो आपकी होगी.

जनरल ओपीनियन तो क्या, लेकिन बहुत संतुष्ट नहीं हूं. आपको यह भी बताऊं, सदैव से मैं कविताएं ज्यादा पढ़ता रहा हूं. कहानियां मैंने मास्टर्स की पढ़ी हैं. यूं मैं पत्र-पत्रिकाओं में से कहानियों निकालकर नहीं पढ़ता. ईमान की बात है, वक्त नहीं मिलता.

कहानी की बात चली तो आपकी 'सहज कहानी' की याद आ गयी. क्या मुराद थी आपकी उससे? यह क्या एक आंदोलन था?

लोगों ने उसे आंदोलन समझा लेकिन वह आंदोलन नहीं था. आंदोलन ही मुझे चलाना होता तो आंदोलन चलाने का ढंग भी मुझे आता है. बहुत चलाया है मैंने आंदोलन. पत्रिका मेरे हाथ में थी. आंदोलन चलाने में क्या देर लगती. लेकिन मुझे चलाना नहीं था. उससे सिर्फ यह रेखांकित करना चाहता था कि कहानी में से जो कथारस निकला चला जा रहा है, वह बहुत गलत है. कहानी में कथानक का अंश कम हो, ज्यादा हो, यह एक बात है, लेकिन एक कथारस जो कि बांधे रहे पाठक को, वह मैं कहानी के लिए जरूरी समझता हूं. वह अगर नहीं है तो कहानी आपकी नहीं पढ़ी जायेगी, और जो भी चीज लिखी जाती है सबसे पहले पढ़ने के लिए लिखी जाती है.

तो आपको लगता है कि उससे बात कहीं आगे बढ़ी? या कथारस सूख गया या सूखता जा रहा है? आज जो कहानियां लिखी जा रही हैं, उससे लगता है कि कथा बदली है?

हां, बदली. अब वह चीज, वह दौर खत्म हो गया है और कहानी फिर जमीन को पा रही है. 'सारिका' में भी मैं देख रहा हूं, ज्यादा नहीं पढ़ता, लेकिन एकदम कोरा भी नहीं रहना चाहता. इसलिए उलट-पलट लिया करता हूं. मुझे लगता है कि इस समय अब 'सारिका' का जो रूप बन रहा है, वह कहानी के उस कथारस वाले रूप के साथ जुड़ के बन रहा है. जिसमें वह वैविध्य है, जो कि जीवन-अनुभवों का वैविध्य है और उन सबके बीच से हर आदमी के अपने गुजरने का वैविध्य है.

लेकिन अगर मैं इसे सारिका में छाप दूं तो लोग ऐसा नहीं कहेंगे कि देखिए सारिका संपादक को खुश करने के लिए, अमृतजी ने ऐसा कह दिया?

तो आप यह बात काट दीजिये. कोई जरूरी नहीं है कि आप इस बात को छापें. लेकिन सच अपनी जगह है कि उसमें बदलाव तो आया है.

आप अपने समकालीनों में जिनको सचमुच बड़ी रुचि से पढ़ते हैं या जरूर पढ़ना चाहते हैं उनमें से कुछ नाम ले सकेंगे?

नाजुक मसला है, इसे छोड़ो यार! **और बातचीत हमने वहीं छोड़ दी** □

अगला अंक

सारिका

अगस्त-८० : अंक-एक

पहले से अधिक पठनीय, रोचक, मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक

आईना खानए खानम में भला क्या देखा,
तेरे धोखे में खुद अपना ही तमाशा देखा!

जिंदगी के उन मंजरों की बेमिसाल रचनाएं जब आदमी बेवजह तमाशा बन जाता है—

इंतजार हुसैन (पाकिस्तान) **नासिरा शर्मा, बाला दुबे,** और **राजकिशोर** की सशक्त कहानियां तथा तीन भारतीय भाषाओं के अन्यतम उपन्यासों के कहानी जितने ही संपूर्ण अंश—हिंदी में पहली बार—

■ **मृत्युंजय** (असमिया) : **बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य**
इस वर्ष के ज्ञानपीठ विजेता की कलम से इतिहास का एक नया अध्याय—राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत उन गुरिल्ला क्रांतिकारियों की गाथा जो बर्मा तथा असम के मोर्चों पर आजादी की लड़ाई में शहीद हुए.

■ **अछूत** (मराठी) : **दया पवार**
दलित! जिन्हें छूना भी पाप समझ लिया जाता है—वे कैसे जीते हैं? उनके पुरातन संस्कार, उनकी गरीबी, उनका पिछड़ापन आज तक भी क्यों मुंह बाये खड़े हैं?—दलित वर्ग के हमदर्द कथाकार के ताजा रचनात्मक एहसास.

■ **अछूत गली** (बंगला) : **सुभाष समाजदार**
मई, 80 : अंक 2 में प्रकाशित **'बांदी की बिरासत'** की अगली कड़ी—सामंती साम्राज्य के इतिहास के कलंकित कारनामे—गुलाम औरतों-मर्दों की लोमहर्षक जिंदगी का मार्मिक खाका.

■ **साक्षात्कार**
हाल ही में दिल्ली आये पाकिस्तान के मशहूर कथाकार **इंतजार हुसैन** से **केवल गोस्वामी** की बातचीत

■ **मुहब्बत के सफरनामे में जिंदगी के अक्स!**
अमृता प्रीतम द्वारा मुहब्बत के सफल-असफल पक्षों पर धारावाही बातचीत की समापन किस्त.

■ **इवो आंद्रिच के कूचे में : मणि मधुकर**
युगोस्लाविया के नोबेल पुरस्कार विजेता इवो आंद्रिच के शहर त्राव्निक के संस्मरण और हिंदी में पहली बार चित्रों सहित उनके रचना संसार का आलेखन.

सतीश दुबे, पृथ्वीराज अरोड़ा, चित्रा मुद्गल, जसबीर चावला, बलराम, श्रीचंद्र, वीरेंद्र कुमार जैन, राजेंद्र मिश्र की लघुकथाएं.

पाठकों का पन्ना, जरिया नजरिया, तस्वीर बोलती है, पखवारे की पुस्तकें, हलचल, नयी पत्रिकाएं आदि सभी स्थायी स्तंभों सहित—

सारिका

घर-परिवार और पुस्तकालय की पहली जरूरत